

भाषा-विज्ञान (Linguistics)

एम.ए. संस्कृत (प्रथम सामिसत्र)
Paper Code - 20SKT21C5

संपादक
डॉ. श्री भगवान
सहायक प्रोफेसर
संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक



DIRECTORATE OF DISTANCE EDUCATION
MAHARSHI DAYANAND UNIVERSITY, ROHTAK
(A State University established under Haryana Act No. 25 of 1975)
(NAAC Accredited 'A+' Grade)

पाठ्यक्रम

Paper code: 20SKT21C5

भाषाविज्ञान

M.Marks: 100

Term End Examination: 80

Assignment: 20

समय : 3 घण्टे

घटक-I	भाषा तथा भाषाविज्ञान का परिचय, विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण (आकृतिमूलक, परिवारमूलक)	20
घटक-II	भारोपीय परिवार का परिचय, इण्डो ईरानियन शाखा का परिचय, संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश का उद्भव, विकास तथा तुलनात्मक अध्ययन	20
घटक-III	ध्वनि एवं पद विज्ञान- उच्चारण अवयव, उनके कार्य, ध्वनियों का वर्गीकरण, ध्वनि परिवर्तन के कारण तथा दिशाएँ, ध्वनि नियम, पद का स्वरूप, पद तथा शब्द में अन्तर, पद के भेद, पद परिवर्तन के कारण तथा दिशाएँ	20
घटक-IV	वाक्य एवं अर्थ विज्ञान-वाक्य का लक्षण तथा भेद, वाक्य परिवर्तन के कारण तथा दिशाएँ, अर्थपरिवर्तन के कारण तथा दिशाएँ	20

दिशानिर्देश :

नोट 16-16 अंक के कुल पांच प्रश्न पूछे जाएंगे जिनमें से प्रथम प्रश्न वस्तुनिष्ठ होगा जिसके अन्तर्गत विकल्प रहित आठ वस्तुनिष्ठ प्रश्न (प्रत्येक घटक में से दो) पूछे जायेंगे जिनका उत्तर संस्कृत भाषा में देना अनिवार्य होगा।

शेष चार प्रश्नों के घटकानुसार निर्देश अधोलिखित हैं

घटक-I दो में से एक प्रश्न

घटक- II दो में से एक प्रश्न

घटक-III दो में से एक प्रश्न

घटक- IV दो में से एक प्रश्न

अनुशंसित ग्रन्थ-

1. भाषा-विज्ञान एवं भाषाशास्त्र, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
2. भाषाविज्ञान, डॉ० कर्णसिंह, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ
3. संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, भोलाशंकर व्यास
4. पदपदार्थ समीक्षा, डॉ. बलदेवसिंह, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय प्रकाशन
5. A manual of Sanskrit phonetics by C. Uhlenbeck
6. Linguistic Introduction to Sanskrit by B.K. Ghosh
7. An Introduction to comparative philology by P.D. Gune
8. Sanskrit language, T. Burrow
9. Language, its nature, development and origin, O. Jespersen

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

पाठ्यक्रम

2-3

विषय-सूची

4-6

इकाई - 1 : भाषा तथा भाषा-विज्ञान का परिचय एवं विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण

7-45

- 1.1. परिचय
- 1.2. इकाई के उद्देश्य
- 1.3. भाषा-विज्ञान का सामान्य परिचय
- 1.4. भाषा की परिभाषा तथा विशेषताएँ
- 1.5. विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण
 - 1.5.1. आकृतिमूलक
 - 1.5.2. परिवारमूलक
- 1.6. अपनी प्रगति जांचिए
- 1.7. सारांश
- 1.8. मुख्य शब्दावली
- 1.9. अपनी प्रगति जांचिए के उत्तर
- 1.10. अभ्यास हेतु प्रश्न
- 1.11. आप ये भी पढ़ सकते हैं

इकाई - 2 : भारोपीय परिवार तथा इण्डो ईरानियन शाखा का परिचय एवं संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश का उद्भव विकास तथा तुलनात्मक अध्ययन

46-92

- 2.1. परिचय
- 2.2. इकाई के उद्देश्य

- 2.3. भारोपीय भाषा परिवार
- 2.4. भारत-ईरानी परिवार
- 2.5. संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश का उद्भव विकास तथा तुलनात्मक अध्ययन
- 2.6. अपनी प्रगति जांचिए
- 2.7. सारांश
- 2.8. मुख्य शब्दावली
- 2.9. अपनी प्रगति जांचिए के उत्तर
- 2.10. अभ्यास हेतु प्रश्न
- 2.11. आप ये भी पढ़ सकते हैं

इकाई - 3 : ध्वनि एवं पद-विज्ञान

93—128

- 3.1. परिचय
- 3.2. इकाई के उद्देश्य
- 3.3. ध्वनि-विज्ञान
- 3.4. पद-विज्ञान(रूप-विज्ञान)
- 3.5. अपनी प्रगति जांचिए
- 3.6. सारांश
- 3.7. मुख्य शब्दावली
- 3.8. अपनी प्रगति जांचिए के उत्तर
- 3.9. अभ्यास हेतु प्रश्न
- 3.10 आप ये भी पढ़ सकते हैं

इकाई - 4 : वाक्य एवं अर्थ-विज्ञान

129—159

- 4.1. परिचय
- 4.2. इकाई के उद्देश्य

- 4.3. वाक्य-विज्ञान
- 4.4. अर्थ-विज्ञान
- 4.5. अपनी प्रगतिजांचिए
- 4.6. सारांश
- 4.7. मुख्य शब्दावली
- 4.8. अपनी प्रगति जांचिए के उत्तर
- 4.9. अभ्यास हेतु प्रश्न
- 4.10. आप ये भी पढ़ सकते हैं

इकाई-1

भाषा तथा भाषा-विज्ञान का परिचय एवं विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण

1.1. परिचय

प्रस्तुत इकाई में हम भाषा तथा भाषा-विज्ञान का परिचय प्राप्त करेंगे तथा विश्व की भाषाओं का आकृतिमूलक एवं परिवारमूलक आधार पर वर्गीकरण करेंगे।

भाषा किसे कहते हैं? साधारणतः भाषा मानव के मुख से निकली वे सार्थक ध्वनियाँ हैं जो दूसरों तक अपनी बात पहुंचाने का काम करती है। भाषा मानव के विचार-विनिमय का साधन है। भाषा यादृच्छिक वाचिक ध्वनि-संकेतों की वह पद्धति है, जिसके द्वारा मानव परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता है।¹

भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन जिस शास्त्र में किया जाता है, उसे भाषा का विज्ञान कहते हैं। अध्ययन के अनेक विषयों में से आजकल भाषा-विज्ञान को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। अपने वर्तमान स्वरूप में भाषा-विज्ञान पश्चिमी विद्वानों के मस्तिष्क की देन कहा जाता है। अतिप्राचीन काल से ही भाषा-सम्बन्धी अध्ययन की प्रवृत्ति संस्कृत-साहित्य में पाई जाती है। 'शिक्षा' नामक वेदांग में भाषा सम्बन्धी सूक्ष्म चर्चा उपलब्ध होती है। ध्वनियों के उच्चारण- अवयव, स्थान, प्रयत्न आदि का इन ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। 'प्रातिशाख्य' एवं निरुक्त में शब्दों की व्युत्पत्ति, धातु, उपसर्ग-प्रत्यय आदि विषयों पर वैज्ञानिक विश्लेषण भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन कहा जा सकता है। भर्तृहरि के ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' के अन्तर्गत 'शब्द' के स्वरूप का सूक्ष्म, गहन एवं व्यापक चिन्तन उपलब्ध होता है। वहाँ शब्द को 'ब्रह्म' के रूप में परिकल्पित किया गया है और उसकी 'अक्षर' संज्ञा बताई गई है। प्रकारान्तर से यह एक भाषा-अध्ययन सम्बन्धी ग्रन्थ ही है। संस्कृत-साहित्य में दर्शन एवं साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी हमें 'शब्द', 'अर्थ', 'रस', 'भाव' के सूक्ष्म विवेचन के अन्तर्गत भाषा वैज्ञानिक चर्चाओं के ही संकेत प्राप्त

¹ A Language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a social group Cooperates.-
Outlines of linguistic analysis, B. Bloch and G.L. Trager, P. 5.

होते हैं' संस्कृत-साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध होने वाली भाषा-विचार-विषयक सामग्री ही निश्चित रूप से वर्तमान भाषा-विज्ञान की आधारशिला कही जा सकती है। आधुनिक विषय के रूप में भाषा-विज्ञान का सूत्रपात यूरोप में सन् 1786 ई. में सर विलियम जोन्स नामक विद्वान् द्वारा किया गया माना जाता है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के प्रसंग में सर विलियम जोन्स ने ही सर्वप्रथम संस्कृत, ग्रीक और लैटिन भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए इस संभावना को व्यक्त किया था कि संभवतः इन तीनों भाषाओं के मूल में कोई एक भाषा रूप ही आधार बना हुआ है। अतः इन तीनों भाषाओं (संस्कृत, ग्रीक, और लैटिन) के बीच एक सूक्ष्म संबंध सूत्र अवश्य विद्यमान है। भाषाओं का इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन ही आधुनिक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र का पहला कदम बना।

विश्व की भाषाओं की गणना करना अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। इस दिशा में विश्व की भाषाओं की कुल संख्या बतला पाना बहुत कठिन ही नहीं असम्भव भी है। फिर भी, विद्वानों ने इस दिशा में प्रयास किया है। देवेन्द्रनाथ आदि कुछ लोगों के अनुसार विश्व की भाषाओं की कुल संख्या 2796 है। तथापि इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान ही है। अनुमानतः विश्व में भाषाओं की कुल संख्या लगभग 3000 स्वीकार की जाती है। इतनी भाषाओं में से प्रत्येक का ज्ञान प्राप्त करना किसी भी व्यक्ति के लिए न तो सम्भव ही है और न स्वाभाविक ही। अतः यहाँ वर्गीकरण द्वारा विश्व की भाषाओं का स्थूल परिचय ही पर्याप्त समझना चाहिए।

भाषा-विज्ञान में विश्व-भाषाओं के दो प्रकार से वर्गीकरण किए गए हैं-

1. आकृतिमूलक वर्गीकरण,
2. परिवारमूलक वर्गीकरण

वर्गीकरण का श्रेय प्रोफेसर श्लेगल (F. Schlegel) को है। उन्होंने सर्वप्रथम भाषाओं को दो वर्गों में बाँटा था।

1.2. इकाई के उद्देश्य

भाषा की अवधारणा को समझ सकेंगे;

भाषा-विज्ञान के विभिन्न पक्षों से परिचित हो सकेंगे;

विश्व की भाषाओं के वर्गीकरण का विश्लेषण कर पाएंगे;

विश्व की भाषाओं के परिवारमूलक वर्गीकरण का विवेचन कर पाएंगे;

आकृतिमूलक वर्गीकरण की समीक्षा कर सकेंगे।

1.3. भाषा-विज्ञान का सामान्य परिचय

“भाषा-विज्ञान” नाम में दो पदों का प्रयोग हुआ है। “भाषा” तथा “विज्ञान”। भाषा-विज्ञान को

समझने से पूर्व इन दोनों शब्दों से परिचित होना आवश्यक प्रतीत होता है।

‘भाषा’ शब्द संस्कृत की “भाष्” धातु से निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है-व्यक्त वाक् (व्यक्तायां वाचि)। ‘विज्ञान’ शब्द में ‘वि’ उपसर्ग तथा ‘ज्ञा’ धातु से ‘ल्युट्’ (अन) प्रत्यय लगाने पर बनता है। सामान्य रूप से ‘भाषा’ का अर्थ है ‘बोल चाल की भाषा या बोली’ तथा ‘विज्ञान’ का अर्थ है ‘विशेष ज्ञान’, किन्तु ‘भाषा-विज्ञान’ शब्द में प्रयुक्त इन दोनों पदों का स्पष्ट और व्यापक अर्थ समझ लेने पर ही हम इस नाम की सारगर्भिताको जानने में सफल होंगे। अतः हम यहाँ इन दोनों पदों के विस्तृत अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं।

मानव एक सामाजिक प्राणी है। समाज में अपने भावों और विचारों को एक दूसरे तक पहुंचाने की आवश्यकता चिरकाल से अनुभव की जाती रही है। इस प्रकार भाषा का अस्तित्व मानव समाज में अतिप्राचीन सिद्ध होता है। मानव के सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का प्रकाशन करने के लिए, सभ्यता और संस्कृति के इतिहास को जानने के लिए भाषा एक महत्त्वपूर्ण साधन का कार्य करती है। हमारे पूर्वपुरुषों से सभी साधारण और असाधारण अनुभव हम भाषा के माध्यम से ही जान सके हैं। हमारे सभी सद्गुणों और शास्त्रों से मिलने वाला ज्ञान भाषा पर ही निर्भर है। महाकवि दण्डी ने अपने महान् ग्रन्थ ‘काव्यादर्श’ में भाषा की महत्ता सूचित करते हुए लिखा है:-

“इदंधतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।

यदि शब्दाह्वयं ज्योत्तिरासंसारं न दीप्यते॥”

अर्थात् यह सम्पूर्ण भुवन अंधकारपूर्ण हो जाता, यदि संसार में शब्द-स्वरूप ज्योति अर्थात् भाषा का प्रकाश न होता। स्पष्ट ही है कि यह कथन मानव भाषा को लक्ष्य करके ही कहा गया है। पशु-पक्षी भावों को प्रकट करने के लिए जिन ध्वनियों का आश्रय लेते हैं वे उनके भावों का वहन करने के कारण उनके लिए भाषा हो सकती हैं किन्तु मानव के लिए अस्पष्ट होने के कारण विद्वानों ने उसे ‘अव्यक्त वाक्’ कहा है, जो भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखती। क्योंकि ‘अव्यक्त वाक्’ में शब्द और अर्थ दोनों ही अस्पष्ट बने रहते हैं। मनुष्य भी कभी-कभी अपने भावों को प्रकट करने के लिए अंग-भंगिमा, भ्रू-संचालन, हाथ-पाँव-मुखाकृति आदि के संकेतों का प्रयोग करते हैं परन्तु वह भाषा के रूप में होते हुए भी ‘व्यक्त वाक्’ नहीं है। मानव भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह ‘व्यक्त वाक्’ अर्थात् शब्द और अर्थ की स्पष्टता लिए हुए होती है। महाभाष्य के रचयिता पतंजलि के अनुसार ‘व्यक्त वाक्’ का अर्थ भाषा के वर्णनात्मक होने से ही है।

यह सत्य है कि कभी-कभी संकेतों और अंगभंगिमाओं की सहायता से भी हमारे भाव और विचारों का प्रेषण बड़ी सरलता से हो जाता है। इस प्रकार वे चेष्टाएँ भाषा के प्रतीक बन जाती हैं किन्तु मानव भावों को प्रकट करने का सबसे उपयुक्त साधन वह वर्णनात्मक भाषा है जिसे ‘व्यक्त वाक्’ की संज्ञा प्रदान

की गई है। इस में विभिन्न अर्थों को प्रकट करने के लिए कुछ निश्चित उच्चरित या कथित ध्वनियों का आश्रय लिया जाता है। अतः भाषा हम उन शब्दों के समूह को कहते हैं जो विभिन्न अर्थों के संकेतों से सम्पन्न होते हैं। जिनके द्वारा हम अपने मनोभाव सरलता से दूसरों के प्रति प्रकट कर सकते हैं। इस प्रकार भाषा की परिभाषा करते हुए हम उसे मानव-समाज में विचारों और भावों का आदान-प्रदान करने के लिए अपनाया जाने वाला एक माध्यम कह सकते हैं जो मानव के उच्चारण अवयवों से प्रयत्नपूर्वक निःसृत की गई ध्वनियों का सार्थक आधार लिए रहता है। वो ध्वनि-समूह शब्द का रूप तब लेते हैं जब वे किसी अर्थ से जुड़ जाते हैं। सम्पूर्ण ध्वनि-व्यापार अर्थात् शब्द-समूह अपने अर्थ के साथ एक 'यादृच्छिक' सम्बंध पर आधारित होता है। 'यादृच्छिक' का अर्थ है पूर्णतया कल्पित। संक्षेप में विभिन्न अर्थों में व्यक्त किये गए मुख से उच्चरित उस शब्द समूह को हम भाषा कहते हैं जिसके द्वारा हम अपने भाव और विचार दूसरों तक पहुँचाते हैं।

विज्ञान शब्द का अर्थ

किसी भी विषय के 'विशिष्ट ज्ञान' को विज्ञान कहा जा सकता है। विज्ञान, अर्थात् विशेष ज्ञान। ज्ञान और विशेष ज्ञान में पूर्णतः अन्तर है। उदाहरण के लिए किसी पौधे या पेड़ को देख कर उसका नाम बता देना उसके आकार-प्रकार की थोड़ी जानकारी दे-देना उसका सामान्य ज्ञान कहा जाता है परन्तु उस पौधे या वृक्ष की कौन-कौन-सी प्रजातियाँ पाई जाती हैं, कहाँ-कहाँ किस देश में पाई जाती हैं, उसके लिए किस प्रकार की जलवायु या ऋतु की आवश्यकता रहती है, आयुर्वेद की दृष्टि से उसका क्या महत्त्व है, आदि-आदि का विस्तृत एवं सूक्ष्म ज्ञान विज्ञान कहा जाएगा। किसी भी ज्ञान को प्राप्त करने में पहली सीढ़ी ज्ञान है और दूसरी सीढ़ी विज्ञान। यह सभी प्रकार के ज्ञानार्जन का एक क्रम है। जो वस्तु पहले सामान्य ज्ञान की सीमा में आती है वही सूक्ष्म अवलोकन करने पर धीरे-धीरे विस्तृत ज्ञान-सीमा में आने पर विज्ञान की श्रेणी में आ जाती है। ज्ञान और विज्ञान का निरन्तर एक क्रम चलता रहता है। विज्ञान जब एक सामान्य ज्ञान बन जाता है तो वह भावी विज्ञान का फिर आधार बन जाता है। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति ने वन में बाँस की तरह का एक पौधा देखा। उसे काटने पर उसमें से रस प्रकट हुआ। उसे रस की जानकारी होने पर उसने उसे गन्ना कहा, यह इसका सामान्य ज्ञान था परन्तु गन्ने की खेती कर उसका उत्पादन शुरू कर देना एक विज्ञान है। गन्ने का उत्पादन गुड़ के निर्माण का आधार बनने पर सामान्य ज्ञान बना और गुड़ बनाना विशेषज्ञान होने से विज्ञान बन गया। गुड़-निर्माण हुआ तो चीनी विज्ञान की देन बनी और गुड़ सामान्य ज्ञान की श्रेणी में चला गया। भाषा और विज्ञान दोनों शब्दों को समझ लेने के पश्चात् 'भाषा-विज्ञान' को समझ लेना सरल हो गया है। गन्ने की भाँति भाषा एक प्राकृतिक वस्तु है जो मानव को ईश्वरीय वरदान के रूप में मिली हुई है। भाषा का निर्माण मनुष्य के मुख से स्वाभाविक रूप में निःसृत ध्वनियों (वर्णों) के द्वारा होता है। भाषा का सामान्य ज्ञान इसके बोलने और सुनने वाले सभी को हो जाता है। यही भाषा का सामान्य ज्ञान कहलाता है। इसके आगे, भाषा कब बनी, कैसे बनी ? इसका प्रारम्भिक एवं प्राचीन स्वरूप

क्या था? इसमें कब-कब, क्या-क्या परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों के क्या कारण हैं? अथवा कुल मिलाकर भाषा कैसे विकसित हुई? उस विकास के क्या कारण हैं? कौन सी भाषा किसी दूसरी भाषा से कितनी समानता या विषमता रखती है? यह सब भाषा का विशेष ज्ञान या 'भाषा-विज्ञान' कहा जाएगा। इसी भाषा-विज्ञान के विशेष रूप अर्थात् भाषा-विज्ञान को आज अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण विषय मान लिया गया है।

भाषा-विज्ञान - कला है या विज्ञान

भाषा-विज्ञान जब अध्ययन के विषयों में बड़ी-बड़ी कक्षाओं के पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया तो सर्वप्रथम यह एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न हुआ कि भाषा-विज्ञान को कला के अन्तर्गत गिना जाए या विज्ञान में। अर्थात् भाषा-विज्ञान कला है अथवा विज्ञान है। अध्ययन की प्रक्रिया एवं निष्कर्षों को लेकर निश्चय किया जाने लगा कि वस्तुतः उसे भौतिक विज्ञान, एवं रसायन विज्ञान आदि की भाँति विशुद्ध विज्ञान माना जाए अथवा चित्र, संगीत, मूर्ति, काव्य आदि कलाओं की भाँति कला के रूप में स्वीकार किया जाए।

भाषा-विज्ञान कला नहीं है

कला का सम्बन्ध मानव-जाति वस्तुओं या विषयों से होता है। यही कारण है कि कला व्यक्ति प्रधान या पूर्णतः वैयक्तिक होती है। व्यक्ति सापेक्ष होने के साथ-साथ किसी देश विशेष और काल-विशेष का भी कला पर प्रभाव रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी काल में कला के प्रति जो मूल्य रहते हैं उनमें कालान्तर में नए-नए परिवर्तन उपस्थित हो जाते हैं तथा वे किसी दूसरे देश में भी मान लिए जाएँ, यह भी आवश्यक नहीं है। एक व्यक्ति को किसी वस्तु में उच्च कलात्मक अभिव्यक्ति लग रही है। किन्तु दूसरे को वह इस प्रकार की न लग रही हो। अतः कला की धारणा प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न हुआ करती है।

कला का सम्बन्ध मानव हृदय की रागात्मिक वृत्ति से होता है। उसमें व्यक्ति की सौन्दर्यानुभूति का पुट मिला रहता है। कला का उद्देश्य भी सौन्दर्यानुभूति कराना, या आनन्द प्रदान करना है, किसी वस्तु का तात्त्विक विश्लेषण करना नहीं। कला के स्वरूप की इन सभी विशेषताओं की कसौटी पर परखने से ज्ञात होता है कि भाषा-विज्ञान कला नहीं है। क्योंकि उसका सम्बन्ध हृदय की सरसता-वृत्ति से न होकर बुद्धि की तत्त्वग्राही दृष्टि से होता है। भाषा-विज्ञान का उद्देश्य सौन्दर्यानुभूति कराना या मनोरंजन कराना भी नहीं है। वह तो हमारे बौद्धिक चिन्तन को प्रखर बनाता है। भाषा के अस्तित्व का तात्त्विक मूल्यांकन करता है। उसका दृष्टिकोण बुद्धिवादी है। भाषा-विज्ञान के निष्कर्ष किसी व्यक्ति, राष्ट्र या काल के आधार पर परिवर्तित नहीं होते हैं तथा भाषा-विज्ञान के अध्ययन का मूल आधार जो भाषा है, वह मानवकृत पदार्थ नहीं है। अतः भाषा-विज्ञान को हम कला के क्षेत्र में नहीं गिन सकते। भाषा-विज्ञान की उपयोगिता इसमें है कि वह भाषा सिखाने की कला का ज्ञान कराता है। इसी कारण स्वीट ने व्याकरण

को भाषा को कला तथा विज्ञान दोनों कहा है। भाषा का शुद्ध उच्चारण, प्रभावशाली प्रयोग कला की कोटि में रखे जा सकते हैं।

भाषा-विज्ञान - विज्ञान है

भाषा-विज्ञान को कला की सीमा में नहीं रखा जा सकता, यह निश्चय हो जाने पर यह प्रश्न उठता है कि क्या भाषा-विज्ञान, भौतिक-शास्त्र, रसायन-विज्ञान आदि विषयों की भाँति पूर्णतः विज्ञान है ? अनेक विद्वानों की धारणा में भाषा-विज्ञान विशुद्ध विज्ञान नहीं है। उनकी धारणा के अनुसार अभी भाषा-विज्ञान के सभी प्रयोग पूर्णता को प्राप्त नहीं हुए हैं और उसके निष्कर्षों को इसीलिए अंतिम निष्कर्ष नहीं कहा जा सकता। इसके साथ ही भाषा-विज्ञान के सभी निष्कर्ष विज्ञान की भाँति सार्वभौमिक और सार्वकालिक भी नहीं हैं। जिस प्रकार गणित शास्त्र में $2+2=4$ सार्वकालिक, विकल्परहित निष्कर्ष है जो सर्वत्र स्वीकार किया जाता है, भाषा-विज्ञान के पास इस प्रकार के विकल्प-रहित निर्विवाद निष्कर्ष नहीं है। विज्ञान में तथ्यों का संकलन और विश्लेषण होता है और ध्वनि के नियम अधिकांशतः विकल्परहित ही हैं, अतः कुछ विद्वानों के अनुसार भाषा-विज्ञान को मानविकी (कला) एवं विज्ञान के मध्य में रखा जा सकता है। विचार करने पर हम देखते हैं कि विज्ञान की आज की प्रगति में प्रत्येक विशेष ज्ञान अपने आगामी ज्ञान के सामने पुराना और अवैज्ञानिक सिद्ध होता जा रहा है। नित्य नवीन आविष्कारों के आज के युग में वैज्ञानिक दृष्टि नित्य सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और नवीन से नव्यतर होती चली जा रही है। आज के विकसित ज्ञान-क्षेत्र को देखते हुए कई वैज्ञानिक मान्यताएँ पुरानी और फीकी पड़ गई हैं। न्यूटन का प्रकाश सिद्धान्त भी अब सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा है। इससे यह सिद्ध होता है कि नूतन ज्ञान के प्रकाश में पुरातन ज्ञान भी विज्ञान के क्षेत्र से बाहर कर दिया जाता है। अतः विशुद्ध ज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर भाषा-विज्ञान को हम विज्ञान के ही सीमा-क्षेत्र में पाते हैं। भाषा-विज्ञान निश्चय ही एक विज्ञान है जिसके अन्तर्गत हम भाषा का विशेष ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह सही है कि अभी तक भाषा-विज्ञान का वैज्ञानिक स्तर पर पूर्णतः विकास नहीं हो पाया है। यही कारण है कि प्रसिद्ध ग्रिम-नियम के आगे चल कर ग्रासमान और वर्नर को उसमें सुधार करना पड़ा है। उक्त सुधारों से पूर्व ग्रिम का ध्वनि नियम निश्चित नियम ही माना जाता था और सुधारों के बाद भी वह निश्चित नियम ही माना जाता है। इस प्रकार नये ज्ञान के प्रकाश में पुराने सिद्धान्तों का खण्डन होने से विज्ञान का कोई विरोध नहीं है। वास्तव में यही शुद्ध विज्ञान है। सन् 1930 के बाद जहाँ वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान को पुनः महत्त्व प्राप्त हुआ, वहाँ तब से लेकर आज तक तेज गति में विकास हुआ है। जब से ध्वनि के क्षेत्रमें यंत्रों की सहायता से नए-नए परीक्षण प्रारम्भ हुए हैं तथा प्राप्त निष्कर्ष पूरी तरह नियमित होने लगे हैं, तब से ही भाषा-विज्ञान धीरे-धीरे प्रगति करता हुआ विज्ञान की श्रेणी में माना जाने लगा है। विज्ञान की एक बड़ी विशेषता है उसका प्रयोगात्मक होना। अमेरिकी विद्वान् बलूम फील्ड (सन् 1933 ई.) के बाद अमेरिकी भाषा विज्ञानियों ने ध्वनि-विज्ञान एवं रूप-विज्ञान आदि के साथ भाषा-विज्ञान की एक नवीन पद्धति के

रूप में प्रायोगिक भाषा-विज्ञान का बड़ी तीव्रता के साथ विकास किया है। इस पद्धति के अन्तर्गत भाषा-विज्ञान प्रयोगशालाओं का विषय बनता जा रहा है और उसके लिए अनेक यंत्रों का आविष्कार हो गया है। यह देख कर निश्चित रूप में इस विषय को विज्ञान ही कहा जाएगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। आजकल जबकि समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि शास्त्रीय विषयों के लिए जहाँ विज्ञान शब्द का प्रयोग करने की परम्परा चल पड़ी है तब शुद्ध कारण-कार्य परम्परा पर आधारित भाषा-विज्ञान को विज्ञान कहना किसी भी दृष्टि से अनुचित नहीं ठहराया जा सकता।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन के प्रकार

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को हम भाषा-विज्ञान कहते हैं और किसी भी अध्ययन को हम वैज्ञानिक तब कहते हैं जब उसमें एक निश्चित प्रक्रिया को अपना कर चलते हैं। भाषा-विज्ञान भी किसी भाषा के कारण-कार्यपरक युक्तिपूर्ण विवेचन-विक्षेपण के लिए कुछ निश्चित प्रक्रियाओं में बंध कर चलता है। इन्हीं प्रक्रियाओं के आधार पर अभी तक भाषा-विज्ञान के पाँच प्रकार के अध्ययन हमें प्राप्त होते हैं :-

(i) वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान

जहाँ किसी एक भाषा के किसी एक ही काल के स्वरूप की व्याख्या या वर्णन किया जाता है, वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान कहलाता है। इसके अन्तर्गत किसी काल विशेष में किसी भाषा में कितनी ध्वनियाँ थीं ? पद-रचना कैसी थी ? वाक्य-रचना कैसी थी, आदि का विस्तार से वर्णन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन में हमें उस भाषा का विशिष्ट परिचय प्राप्त हो जाता है। संस्कृत भाषा का पाणिनीय व्याकरण (अष्टाध्यायी) इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

(ii) ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान

इस प्रकार के भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन में किसी भाषा के क्रमिक इतिहास का अध्ययन विभिन्न कालों के सन्दर्भ में किया जाता है। भाषा के विभिन्न अंगों-ध्वनि, पदरचना, वाक्य रचना आदि के क्रमिक विकास के अध्ययन द्वारा हमें उसके इतिहास का सम्यक् परिचय प्राप्त हो जाता है। प्राचीन काल से लेकर अब तक भाषा का साहित्यिक या असाहित्यिक रूप (बोल चाल के रूप) अथवा प्रयोग से बाहर हुए (मृत रूप) का सम्पूर्ण परिचय हमें इस प्रकार के अध्ययन द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार के अध्ययन के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ, शिलालेख, मुद्राओं पर अंकित भाषा-रूप आदि सहायक होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। इसी कारण इस काल को ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के विकास की दृष्टि से स्वर्णयुग कहा जाता है।

(iii) तुलनात्मक भाषा-विज्ञान

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत दो या दो से अधिक भाषाओं की किसी एक काल में या विभिन्न

कालों में तुलना की जाती है। तुलना का आधार भाषा के विभिन्न अंग अर्थात् शब्द-रचना, वाक्य-रचना आदि होते हैं। यद्यपि इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात अठारहवीं शताब्दी में सर विलियम जोन्स द्वारा कर दिया गया था फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी में इस क्षेत्र में इतनी प्रगति हुई कि इसका नाम ही तुलनात्मक भाषा-विज्ञान पड़ गया।

(iv) संरचनात्मक भाषा-विज्ञान

जिस अध्ययन के द्वारा भाषा में प्रयुक्त सभी तत्त्वों की संरचना का अध्ययन किया जाता है उसे संरचनात्मक भाषा-विज्ञान कहा जाता है। स्विट्जरलैंड निवासी 'द सस्यूर' को संरचनात्मक भाषा-विज्ञान का जन्मदाता कहा जाता है। उनका सम्बन्ध "जैनेवा स्कूल" से है। पहले इन्होंने "जैनेवा स्कूल" को और बाद में "प्राहा स्कूल" को अपने इस अध्ययन का केन्द्र बनाया। आजकल पश्चिमी देशों में संरचनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में नित नूतन प्रयोग हो रहे हैं। इस प्रकार के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के निष्कर्ष ठीक गणित के ही भाँति पूर्णतः निश्चित होते हैं। इसको ही कुछ विद्वान् गठनात्मक भाषा-विज्ञान भी कहते हैं।

(v) प्रायोगिक भाषा-विज्ञान

प्रायोगिक भाषा-विज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसमें उपर्युक्त सभी अध्ययन पद्धतियों का समाहार करना सिखलाया जाता है। इस प्रकार के भाषा-विज्ञान में देशी अथवा विदेशी भाषा के सिखाने की पद्धति, उच्चारण सिखाने की प्रक्रिया, एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने की शैलीका समावेश रहता है। इसके अतिरिक्त भाषा-अध्ययन के लिए आविष्कृत यंत्रों एवं उपकरणों का व्यावहारिक ज्ञान तथा भाषा-सर्वेक्षण की पद्धति भी इस अध्ययन के अन्तर्गत सम्मिलित की जाती हैं। भाषा-विज्ञान की यह पद्धति अत्यधिक आधुनिक है तथा अभी इस क्षेत्र में निरन्तर विकास की प्रक्रिया चल रही है।

भाषा-विज्ञान की परिभाषा

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के विषय में इतनी जानकारी प्राप्त होने के बाद इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि इसे निश्चित शब्दों में परिभाषाबद्ध किया जाए तथा साथ ही विभिन्न विद्वानों ने इसकी क्या-क्या परिभाषाएँ की हैं, उनका भी अवलोकन कर लिया जाए।

1. डॉ. श्याम सुन्दर दास ने अपने ग्रन्थ भाषा रहस्य में लिखा है- "भाषा-विज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।"
2. मंगल देव शास्त्री (तुलनात्मक भाषाशास्त्र) के शब्दों में-"भाषा-विज्ञान उस विज्ञान को कहते हैं जिसमें (क) सामान्य रूप से मानवी भाषा (ख) किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का

और अन्ततः (ग) भाषाओं या प्रादेशिक भाषाओं के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक विचार किया जाता है।”

3. डॉ. भोलानाथ तिवारी के ‘भाषा-विज्ञान’ ग्रन्थ में यह परिभाषा इस प्रकार दी गई है-“जिस विज्ञान के अन्तर्गत वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति एवं विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए, इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो, उसे भाषा-विज्ञान कहते हैं।”

ऊपर दी गई सभी परिभाषाओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है। डॉ. श्यामसुन्दर दास की परिभाषा में जहाँ केवल भाषाविज्ञान पर ही दृष्टि केन्द्रित रही है वहाँ मंगलदेव शास्त्री एवं भोलानाथ तिवारी ने अपनी परिभाषाओं में भाषा-विज्ञान के अध्ययन के प्रकारों को भी समाहित कर लिया है। परिभाषा वह अच्छी होती है, जो संक्षिप्त हो और स्पष्ट हो। इस प्रकार हम भाषा-विज्ञान की एक नवीन परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं- “जिस अध्ययन के द्वारा मानवीय भाषाओं का सूक्ष्म और विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाए, उसे भाषा-विज्ञान कहा जाता है।”

दूसरे शब्दों में भाषा-विज्ञान वह है जिसमें मानवीय भाषाओं का सूक्ष्म और व्यापक वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

भाषा-विज्ञान का क्षेत्र

मानव की भाषा का जो क्षेत्र है वही भाषा-विज्ञान का क्षेत्र है। संसारभर के सभ्य-असभ्य मनुष्यों की भाषाओं और बोलियों का अध्ययन भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान केवल सभ्य-साहित्यिक भाषाओं का ही अध्ययन नहीं करता अपितु, असभ्य-बर्बर-असाहित्यिक बोलियों का, जो प्रचलन में नहीं हैं, अतीत के गर्व में खोई हुई हैं उन भाषाओं का भी अध्ययन इसके अन्तर्गत होता है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उसके सभी अंग सम्मिलित हैं, जिनका वर्णन आगे प्रस्तुत किया गया है।

भाषा-विज्ञान के अंग अथवा अध्ययन के विभाग

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत भाषा से सम्बन्धित निम्नलिखित अंग अथवा अध्ययन आते हैं-

1. **वाक्य-विज्ञान:** भाषा में सारा विचार-विनिमय वाक्यों के आधार पर किया जाता है। भाषा-विज्ञान के जिस विभाग में इस पर विचार किया जाता है उसे वाक्य-विचार या वाक्य-विज्ञान कहते हैं। इसके तीन रूप हैं- 1. वर्णनात्मक, 2. ऐतिहासिक वाक्य-विज्ञान तथा 3. तुलनात्मक वाक्य-विज्ञान। वाक्य-रचना का सम्बंध बोलनेवाले समाज के मनोविज्ञान से होता है। इसलिए भाषा-विज्ञान की यह शाखा बहुत कठिन है।
2. **पद अथवा रूप-विज्ञान:** वाक्य की रचना पदों या रूपों के आधार पर होती है। अतः वाक्य के

बाद पद या रूप का विचार महत्वपूर्ण हो जाता है। रूप-विज्ञान के अन्तर्गत धातु, उपसर्ग, प्रत्यय आदि उन सभी उपकरणों पर विचार करना पड़ता है जिनसे रूप बनते हैं।

3. **शब्द-विज्ञान:** रूप या पद का आधार शब्द है। शब्दों पर रचना या इतिहास इन दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। किसी व्यक्ति या भाषा का विचार भी इसके अन्तर्गत किया जाता है। कोश-निर्माण तथा व्युत्पत्ति-शास्त्र शब्द-विज्ञान के ही विचार-क्षेत्र की सीमा में आते हैं। भाषा के शब्द समूह के आधार पर बोलने वाले का सांस्कृतिक इतिहास जाना जा सकता है।
4. **ध्वनि-विज्ञान:** शब्द का आधार है ध्वनि। ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनियों का अनेक प्रकार से अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत ध्वनि-शास्त्र एक अलग से उपविभाग है, जिसमें ध्वनि उत्पन्न करने वाले अंगों-मुख-विवर, नासिका-विवर, स्वर तंत्री, ध्वनि यंत्र के साथ-साथ सुनने की प्रक्रिया का भी अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन के दो रूप हैं-ऐतिहासिक और दूसरा तुलनात्मक। ग्रिम नियम का सम्बन्ध इसी से है।
5. **अर्थ-विज्ञान:** वाक्य का बाहरी अंग ध्वनि पर समाप्त हो जाता है। यह भाषा का बाहरी कलेवर है। इसके आगे उसकी आत्मा का क्षेत्र प्रारम्भ होता है, जिसे हम अर्थ कहते हैं। अर्थ-रहित शब्द आत्मारहित शरीर की भाँति व्यर्थ होता है। अतः अर्थ भाषा का एक महत्वपूर्ण अंग होता है। अर्थ-विज्ञान में शब्दों के अर्थों का विकास तथा उसके कारणों पर विचार किया जाता है।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लाभ

भाषा-विज्ञान के अध्ययन से हमें अनेक लाभ होते हैं, जैसे-

1. अपनी चिर-परिचित भाषा के विषय में जिज्ञासा की तृप्ति या शंकाओं का निर्मूलन।
2. ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक संस्कृति का परिचय।
3. किसी जाति या सम्पूर्ण मानवता के मानसिक विकास का परिचय।
4. प्राचीन साहित्य का अर्थ, उच्चारण एवं प्रयोग सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान।
5. विश्व के लिए एक भाषा का विकास।
6. विदेशी भाषाओं को सीखने में सहायता।
7. अनुवाद करने वाली तथा स्वयं टाइप करने वाली एवं इसी प्रकार की मशीनों के विकास और निर्माण में सहायता।
8. भाषा, लिपि आदि में सरलता, शुद्धता आदि की दृष्टि से परिवर्तन-परिवर्द्धन में सहायता।

निष्कर्षतः इन सभी लाभों की दृष्टि से आज के युग में भाषा-विज्ञान को एक अत्यन्त उपयोगी विषय माना जा रहा है और उसके अध्ययन के क्षेत्र में नित्य नवीन विकास हो रहा है।

1.4. भाषा की परिभाषा तथा विशेषताएँ

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मानव समाज में अपने भावों और विचारों का परस्पर आदान-प्रदान किया जाता है। इस सारी भावों-विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम होती है भाषा। भाषा के अतिरिक्त हम अपनी-भावाभिव्यक्ति के लिए यद्यपि अनेक चेष्टाओं की सहायता भी लेते हैं, जैसे- एक-दूसरे का हाथ दबाना, ताली बजाना, चुटकी बजाना, आँख घुमाना, आँख दबाना, खाँसना, मुँह बिचकाना, उंगली दिखाना, गहरी सांस लेना आदि। व्यापक अर्थ में इन्हें भाषा कहा जा सकता है। किन्तु अध्ययन-विश्लेषण की सीमा से बाहर होने के कारण हम इन्हें भाषा नहीं कह सकते। प्रश्न उठता है कि फिर भाषा क्या है? आधुनिक विद्वान् (जैसे बर्नर्ड ब्लाक, ट्रेगर या स्टुअर्ट कैंट आदि) ने भाषा को यादृच्छिक ध्वनि प्रतीक (माना हुआ ध्वनि प्रतीक) का समूह कहा है। विद्वानों ने भाषा की अनेक परिभाषाएँ दी हैं।

भाषा की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों ने भाषा की परिभाषाएँ इस प्रकार दी हैं-

1. डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार-“भाषा उच्चारण-अव्यवों से उच्चरित (अध्ययन-विश्लेषणीय) यादृच्छित ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा एक समाज के लोग आपस में भावों और विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।”

(भाषा विज्ञान)

2. डॉ. बाबू राम सक्सेना के अनुसार- “जिन ध्वनि समूहों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है उनको समष्टि रूपसे भाषा कहते हैं।”

(सामान्य भाषा विज्ञान)

3. आचार्य किशोरीदास वाजपेयी: “विभिन्न अर्थों में संकेतित शब्द समूह ही भाषा है जिसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते हैं।”

(भारतीय भाषा विज्ञान)

4. डॉ. पी. डी. गुणे: “अपने व्यापकतम रूप में भाषा का अर्थ है हमारे विचारों और मनोभावों को व्यक्त करने वाले ऐसे संकेतों का कुल योग जो देखे या सुने जा सकें और जो इच्छानुसार उत्पन्न किए एवं दोहराए जा सकें।”

(डॉ. भोलानाथ तिवारी द्वारा कृत अनुवाद)

5. ए. एच. गार्डीनर- विचार की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि संकेत के व्यवहार को भाषा कहते हैं।

(जी श्यामसुन्दर कृत अनुवाद-“भाषा रहस्य”)

भाषा की प्रकृतिगत विशेषताएँ

भाषा की प्रकृति के आधार पर उसकी कुछ विशेषताएँ हैं जो निम्नलिखित हैं:

1. **भाषा पैतृक सम्पत्ति नहीं:** किसी भी बालक को एक-दो वर्ष की अवस्था में अमरीका या रूस के समाज में पाला जाने के लिए छोड़ दिया जाए तो वह भारतीय होने पर भी भारत की कोई भाषा बोल या समझ नहीं पाएगा, अपितु रूसी या अमेरिकी को सरलता से व्यवहार में लाएगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भाषा पैतृक सम्पत्ति नहीं है। यदि भाषा पैतृक सम्पत्ति होती तो भारतीय बच्चे को किसी भी समाज में शिशु-अवस्था से पाला जाने पर वह भारतीय भाषा का ही प्रयोग करता।

2. **भाषा अर्जित सम्पत्ति है:** भाषा आसपास के वातावरण से ग्रहण की जाने वाली अर्जित सम्पत्ति है। इसी कारण कोई मनुष्य किसी भी भाषा को सीख कर व्यवहार में ला सकता है, परन्तु वह उस भाषा को जानने वाले वर्ग में ही उसका प्रयोग कर सकता है। एक घटना इसके उदाहरण के रूप में उल्लेखनीय है:

कुछ वर्षों पूर्व लखनऊ के एक अस्पताल में एक बारह वर्षीय बालक इलाज के लिए लाया गया जो कुछ भी (मानवीय भाषा के अनुरूप) नहीं बोल पाता था। वह गूंगा नहीं था परन्तु वह अपने मुख से विचित्र ध्वनियाँ निकालता था। जाँच करने पर पता चला कि बाल्यावस्था में ही उसे एक भेड़िया उठा कर ले गया था और वह अपनी बारह वर्ष की अवस्था तक एक गुफा में उस भेड़िये के साथ रहा। परिणामस्वरूप उसका व्यवहार भेड़िये की भाँति हो गया था वह उसी पशु की भाँति विचित्र ध्वनियाँ मुख से निकालने लगा तथा मानव-भाषा से पूर्णतः वंचित था। डॉ. भोलानाथ तिवारी की पुस्तक ‘भाषा-विज्ञान’ में इस घटना की चर्चा की गई है। इससे सिद्ध होता है कि भाषा परिश्रम और प्रयास से अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति है।

3. **भाषा पूर्णतः सामाजिक वस्तु है:** भाषा का प्रयोग समाज के बीच भावों-विचारों को एक-दूसरे तक पहुंचाने के लिए किया जाता है अतः समाज से अलग होकर भाषा की कोई सार्थकता नहीं, उसका कोई भी महत्त्व नहीं। भाषा पूरी तरह एक सामाजिक वस्तु है। समाज से पृथक् किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति के रूप में भाषा का कहीं प्रयोग नहीं होता। व्यक्ति चिन्तन-मनन अकेला कर सकता

है, पर जब भी उसको प्रकट करने का अवसर आयेगा तभी दूसरे व्यक्ति की सत्ता की आवश्यकता पड़ेगी।

4. **भाषा परम्परागत है:** भाषा एक व्यक्ति से दूसरे तक जाने वाली एक परम्परामूलक इकाई है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होने वाली एक सम्पत्ति का नाम भाषा है। व्यक्ति भाषा का अर्जन तो कर सकता है, परन्तु उसे उत्पन्न नहीं कर सकता। भाषा का सीखना ही भाषा को अर्जित करना कहा जाता है। सांकेतिक या गुप्त भाषा को छोड़ कर सभी भाषाओं का अर्जन समाज और परम्परा की सहायता से किया जाता है। अतः भाषा के जन्म देने वाले-पालने वाले कोई माता-पिता हैं तो वे हैं- समाज और परम्परा। इन्हीं की गोद में भाषा पलती और बढ़ती है।
5. **अनुकरण द्वारा भाषा का अर्जन:** भाषा को केवल अनुकरण या नकल द्वारा ही सीखा जा सकता है। कोई माता जब अपने शिशु के सामने 'दूध' शब्द का उच्चारण करती है, 'कौआ', 'गाय', कहती है तो शिशु उन शब्दों का उच्चारण करने, बार-बार कहने का प्रयास करता है और इस अनुकरण के द्वारा वह भाषा को सीखने का प्रयास करता है। भाषा किसी शिशु को माँ के दूध की भाँति मिलने वाली कोई प्राकृतिक उपहार की वस्तु नहीं है, बल्कि हर मनुष्य को भाषा सीखने का निरन्तर प्रयास करना पड़ता है। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू के अनुसार मनुष्य का सबसे बड़ा गुण अनुकरण करना है और भाषा को सीखने में यही गुण सबसे अधिक सहायता करता है।
6. **भाषा निरन्तर परिवर्तनशील है:** भाषा के मौखिक और लिखित रूप में से महत्वपूर्ण मौखिक रूप ही है, क्योंकि लिखित रूप तो उसके मौखिक रूप का ही अनुसरण करता है। भाषा का एक विचार-स्तर है, दूसरा अभिव्यक्त रूप है। इस प्रकार अनुकरण करने वाले का विचार-स्तर और अभिव्यक्ति ठीक उसकी भाँति नहीं हो सकती, जिसका वह अनुकरण कर रहा है। इन्हीं भिन्नताओं के कारण भाषा में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, जिसका प्रमुख कारण नकल का असल से भिन्न होना है, परन्तु कभी-कभी अधिक प्रयोग से घिसने के द्वारा तथा कभी-कभी किसी बाहरी प्रभाव के पड़ जाने पर भी भाषा में परिवर्तन उपस्थिति हो जाते हैं। मूल बात तो यह है कि मानव जाति के जीवन में जिस प्रकार निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार उसकी भाषा भी चिर परिवर्तनशील है।
7. **भाषा का अन्तिम स्वरूप नहीं है:** जो वस्तु पूर्ण हो जाती है, उसका कोई अन्तिम स्वरूप निर्धारित हो जाता है। परन्तु भाषा चिर प्रवाहशील है। उसमें व्यक्ति, स्थान, समय के अनुसार निरन्तर परिवर्तनों की स्थिति बनी रहती है। अतः उसका अन्तिम स्वरूप कैसे बन सकता है?
8. **भाषा की प्रवृत्ति कठिनता से सरलता की ओर:** मानव का एक स्वभाव सर्वत्र देखने में आता है कि वह कठिनाइयों को प्रेम नहीं करता। वह उस कार्य में रुचि लेता है जो सुगम और सरल है। इसी

कारण भाषा के उच्चारण में तनिक सी भी कठिनता हो वह सुगमता प्रेमी मनुष्य कहाँ सहन कर सकता है? वह तुरन्त उसे परिवर्तित कर करके सरल बना लेता है। संस्कृत भाषा का प्राकृत, में प्राकृत का अपभ्रंश में जो विकास या परिवर्तन हुआ है, उसके पीछे सरलीकरण की प्रवृत्ति ही सबसे बड़ा कारण है। कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दी कठिनता की ओर जा रही है, क्योंकि कुछ लोग इसमें कुछ बनावटी शब्दों का प्रयोग करते देखे जाते हैं, जैसे सड़क के लिए 'रथ्या', नहर के लिए 'कुल्या' तथा स्टेशन के लिए 'धूम्र-शकट-विश्रामस्थल'। किन्तु हिन्दीकी प्रवृत्ति जो अपनी स्वाभाविक गति में सरल होकर आगे बढ़ती है, उसमें भविष्य में इन शब्दों के रूप 'सरक', 'नेर' तथा 'टेसन' हो जाएंगे। हिन्दी भाषा की लोकप्रियता उसके सरल और सुगम होने में ही है।

9. **भाषा स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर तथा अप्रौढ़ से प्रौढ़ता की ओर जाती है:** भाषा में अभिव्यक्ति का विषय जब स्थूल से सूक्ष्म होता जाता है, तब भाषा भी उसी के अनुरूप स्थूल से सूक्ष्म होती जाती है। बच्चा जब भाषा सीख रहा होता है तो प्रारम्भ में वह खाना-पीना, सम्बंधियों को पुकारना या पशु-पक्षियों के नाम आदि को ही केवल अपनी भाषा में सम्मिलित करता है। धीरे-धीरे बालक का मानसिक विकास होने पर उसकी भाषा में अधिक प्रौढ़ता का समावेश होने लगता है। ठीक इसी प्रकार समाज का चिन्तन स्थूल से सूक्ष्म होने पर उसकी भाषा में परिपक्वता और प्रौढ़ता आती चली जाती है। बोलचाल की भाषा की तुलना में साहित्य की भाषा प्रायः सूक्ष्म और प्रौढ़ होती है।
10. **भाषा संयोगात्मकता से वियोगात्मकता की ओर जाती है:** भाषा की प्रयोगशलीता के आधार पर पहले विद्वानों की धारणा यह थी कि भाषा विश्लेषण से संश्लेषण अर्थात् वियोग से संयोग की ओर जाती है, परन्तु अब इस धारणा में संशोधन हो गया है। अब विद्वानों का मत है कि भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मकता की ओर जाती है। संस्कृत में जहाँ विभक्तियों का संश्लेष पाया जाता है। वहाँ हिन्दी में वे उससे पृथक् हो चुकी हैं। इसी प्रकार संयुक्ताक्षरों को हिन्दी में तोड़ कर सरल बना लेने की प्रवृत्ति है। उदाहरण के लिए संस्कृत में 'गच्छति' पद है किन्तु हिन्दी में 'जाता है' का प्रयोग किया जाना इसी प्रवृत्ति की पुष्टि करता है।

1.5. विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण

मानव ने जब से पृथ्वी पर जन्म लिया है तभी से वह भाषा बोल रहा है। जहाँ-जहाँ मानव गया वहाँ-वहाँ अपनी भाषा भी साथ ले गया। मानव की जनसंख्या बढ़ने के साथ भाषाओं की संख्या भी बढ़ती गई। आज अनेक भाषाएँ बोली जा रही हैं। कुछ प्राचीन भाषाएँ नई हो गई या परिवर्तन हो गई। कुछ नई भाषाओं ने भी जन्म लिया। प्रारम्भ में थोड़ी ही भाषाएँ विश्व में रही होंगी, परन्तु आज उनकी संख्या बहुत अधिक है।

उपयोगिता

आज का युग, वैज्ञानिक युग है। आज प्रत्येक विषय के अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का महत्त्व है। अतः भाषा के क्षेत्र भी उससे वंचित नहीं है। भाषाओं के वर्गीकरण के द्वारा हमें उनके वैज्ञानिक अध्ययन में सुविधा हो जाती है। साथ ही, भाषाओं को विभिन्न वर्गों में रखना भी स्वयं में एक वैज्ञानिक उपलब्धि है। अतः भाषाविज्ञान के अन्तर्गत भाषाओं के वर्गीकरण को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

विश्व-भाषाओं के वर्गीकरण के प्रमुख आधार

भाषाओं के वर्गीकरण किसी देश, जाति या धर्म के आधार पर नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक ही क्षेत्र में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। आजकल विश्व की भाषाओं के केवल दो वर्गीकरण ही प्रचलित हैं-

1. आकृतिमूलक या रूपात्मक वर्गीकरण
2. पारिवारिक या ऐतिहासिक वर्गीकरण

1.5.1. आकृतिमूलक वर्गीकरण

आकृति अर्थात् शब्दों या पदों की रचना के आधार पर जो वर्गीकरण किया जाता है, इसे आकृतिमूलक वर्गीकरण कहते हैं। एक ही मूल शब्द (अर्थतत्त्व) से विभिन्न प्रत्यय लगाकर जो अनेक पद बनाये जाते हैं, उन पदों में लगने वाले प्रत्ययों का ही दूसरा नाम रूप (रूपतत्त्व) है। अतः इस रूप (रूपतत्त्व) के कारण इसी आकृतिमूलक वर्गीकरण का दूसरा नाम रूपात्मक वर्गीकरण भी है। पदरचना तथा वाक्यरचना भी आकृति के ही अन्तर्गत है, अतः इसी वर्गीकरण को पदात्मक या वाक्यमूलक भी कह दिया जाता है। संक्षेप में, आकृति, रूप, रचना, पद या वाक्य, ये सभी यहाँ पर्याय हैं, अतः इनमें किसी भी शब्द का प्रयोग इस वर्गीकरण के नाम के लिए कर लिया जाता है।

विश्वभाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत भाषाओं में 'आकृति' की समानता देखी जाती है। प्रायः सभी भाषावैज्ञानिकों ने अपने ग्रन्थों में आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण किया है। डॉ. पी. डी. गूणे, डॉ. तारापुरवाला, डॉ. मंगलदेव शास्त्री, डॉ. बाबूराम सक्सेना, डॉ. भोलानाथ तिवारी, डॉ. मनमोहन गौतम आदि विद्वानों ने शब्दों के थोड़े-बहुत अन्तर के साथ भाषाओं का जो आकृतिमूलक उदाहरण मिलता है, वह इस प्रकार है:

आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर भाषाओं को सर्वप्रथम, दो भागों में विभक्त किया जाता है-

1. अयोगात्मक: वह भाषा-वर्ग, जिसकी भाषाओं में अर्थतत्त्व (प्रकृति) के साथ रूपतत्त्व (प्रत्यय) का योग नहीं होता है।

2. **योगात्मक:** वह भाषा-वर्ग, जिसकी भाषाओं में अर्थतत्त्व (प्रकृति के साथ रूपतत्त्व प्रत्यय) का योग होता है।

अर्थतत्त्व (प्रकृति) के साथ रूपतत्त्व (प्रत्यय) के योग की शैली के आधार पर योगात्मक भाषाओं को पुनः तीन विभागों में विभक्त किया जाता है-

1. अश्लिष्ट या प्रत्ययप्रधान
2. श्लिष्ट या विभक्तिप्रधान
3. प्रश्लिष्ट या समासप्रधान

इस प्रकार अयोगात्मक का एक तथा योगात्मक के दो भेदों को जोड़कर, आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर विश्व की भाषाओं को कुल 4 वर्गों में विभाजित किया जाता है-

1. अयोगात्मक भाषाएँ
 2. अश्लिष्ट या प्रत्ययप्रधान भाषाएँ
 3. श्लिष्ट या विभक्तिप्रधान भाषाएँ
 4. प्रश्लिष्ट या समासप्रधान भाषाएँ
1. **अयोगात्मक भाषाएँ:** अयोगात्मक भाषाओं को 'निरवयव' या 'व्यासप्रधान' भी कहा जाता है। इस वर्ग की भाषाओं में प्रयुक्त शब्द, मात्रा अर्थतत्त्व प्रकृति ही होते हैं। प्रत्यय लगाकर उनके विभिन्न रूप नहीं बनते। अतः इस वर्ग की भाषाओं को धातुप्रधान या एकाक्षर भी कहते हैं। इन भाषाओं में रूपतत्त्व का काम 'स्थान', 'निपात शब्द' या 'सुर' से लिया जाता है। अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं के वाक्यों में सभी शब्दों का अन्वय बिना विभक्ति चिह्नजोड़े ही होता है। संस्कृत या अन्य भाषाओं के रूपों की भाँति उनके रूप नहीं चलते, अतः संस्कृत आदि भाषाओं के समान कारकरचना तथा कालरचना भी उनमें नहीं होती और न ही शब्दों के 'संज्ञा', 'सर्वनाम', 'विशेषण', 'क्रिया' तथा 'क्रियाविशेषण' आदि भेद ही होते हैं। अतः इस वर्ग की भाषाओं के व्याकरण में प्रकृति-प्रत्यय का विचार नहीं किया जाता है। वाक्य में शब्दों का परस्पर सम्बन्ध तो होता है परन्तु उस सम्बन्ध को बताने के लिए शब्द की मूल प्रकृति में कोई विकार नहीं होता। सम्बन्धों का निर्णय मुख्यतः तीन आधारों पर किया जाता है-

(क) वाक्य में उस शब्द के स्थान

(ख) उस शब्द के साथ प्रयुक्त 'निपात शब्द'

(ग) उस शब्द में प्रयुक्त सुर (लहजा' या उदात्तादि स्वर) के द्वारा होता है।

अतः इस वर्ग की भाषाओं में स्थान, निपात तथा सुर का बहुत महत्त्व है। अयोगात्मक वर्ग की प्रमुख भाषा चीनी है। इसके अतिरिक्त सूडानी, तिब्बती, बर्मी तथा स्यामी भाषाएँ भी इसी वर्ग की हैं। इन भाषाओं से कुछ उदाहरण यहाँ दृष्टव्य हैं-

स्थान के आधार पर अर्थ-निर्णय-

कुछ भाषाओं में शब्द के स्थान बदल देने से ही उसका अर्थ बदल जाता है। इस वर्ग में चीनी भाषा प्रमुख है। चीनी भाषा के निम्नलिखित वाक्यों में शब्दों का स्थान बदल देने पर उनका अर्थ भी बदल जाता है। इन तीन शब्दों का स्वतंत्र अर्थ इस प्रकार है-

शब्द		अर्थ
वो	=	मैं
नी	=	तू
ता	=	मारना

इन तीन शब्दों को, वाक्य में यदि-

वो ता नी।

इस क्रम से रखा जाय, तो अर्थ होगा-मैं मारता हूँ तुझे (मैं तुझे मारता हूँ)।

किन्तु, यदि स्थान बदल कर इस क्रम से रखा जाय-

नी ता वो। तो अर्थ भी इस प्रकार बदल जायगा:- तू मारता है मुझे (तू मुझे मारता है)।

इसी प्रकार (2) ता जेन = बड़ा आदमी (है)। किन्तु, - जेन ता = आदमी बड़ा (है)।

(3) ता कुओक = बड़ा राज्य, किन्तु, - कुओक ता = राज्य बड़ा (है)।

2. अश्लिष्ट या प्रत्ययप्रधान भाषाएँ: 'श्लिष्ट' का अर्थ है अत्यधिक चिपका हुआ। इसमें निषेधात्मक 'अ' जोड़ने से अर्थ हुआ, जो अत्यधिक चिपका हुआ नहीं है। (इसमें निषेधात्मक 'अ' जोड़ने से अर्थ हुआ, जो अत्यधिक चिपका हुआ नहीं है)। फिर भी चिपका हुआ तो है ही। अतः अश्लिष्ट वर्ग की भाषाएँ वे हैं, जिनमें प्रत्यय (सम्बन्धत्व या रूपतत्त्व) प्रकृति (अर्थतत्त्व) से चिपका हुआ तो रहता है, किन्तु इतना अधिक चिपका हुआ नहीं कि उसे पृथक् रूप में न जाना जा सके। इन भाषाओं से प्रत्यय पृथक् पहचाना जाने वाला होता है। इस प्रकार के जोड़ को "तिल-तण्डुल-न्याय" (तिल और चावल की तरह) कह सकते हैं।

'बान्तू' 'युराल' 'अल्ताई' 'द्रविड़' भाषा-परिवारों की अधिकांश भाषाएँ तथा मुण्डा भाषाएँ इसी वर्ग

की हैं। अल्ताई परिवार की तुर्की भाषा से एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है- अत् (घोड़ा) + लर (बहुवचन का प्रत्यय) = अत्लर (अनेक घोड़े)।

प्रत्यय प्रधान भाषाओं को पाँच वर्गों में बाँटा गया है।

(i) पूर्व-प्रत्यय-संयोग- इन भाषाओं में प्रत्यय, प्रकृति के पूर्व में जुड़ता है। दक्षिणी अफ्रीका के 'बान्तू' भाषा-परिवार की 'काफिरी' भाषा का उदाहरण -

'काफिरी' भाषा के कुछ सर्वनाम इस प्रकार हैं-

जे=वह नि=वे ति=हम

इन सर्वनामों में कर्मवाचक प्रत्यय 'कु' जोड़ने पर इनका रूप होगा-

कुजे = उसको कुनि = उनको कुती=हमको

(ii) परप्रत्यय-संयोगी-इन भाषाओं में प्रत्यय, प्रकृति के 'परे' अर्थात् बाद में जुड़ता है। 'यूराल', 'अल्ताई' तथा 'द्रविड़'-भाषा परिवार इस वर्ग में आते हैं। इस वर्ग की भाषाओं में पहले प्रकृति, फिर वचनसूचक प्रत्यय तथा उसके बाद कारकसूचक प्रत्यय लगता है। उदाहरण-'अल्ताई' परिवार की 'तुर्की' भाषा से-

अत् (प्रकृति)=घोड़ा + लर (बहुवचनप्रत्यय)=घोड़ें +ई (कर्मकारकप्रत्यय)=को

अर्थात् अत्लरी = घोड़ों को।

(iii) मध्यप्रत्यय-संयोगी- भारत के 'मुण्डा' भाषा-परिवार की 'संथाली' भाषा, इसी वर्ग की है। संथाली भाषा में प्रत्यय, प्रकृति के मध्य में जुड़ता है। उदाहरण- मंझी शब्द का अर्थ है एक मुखिया।

बहुवचन का सूचक प्रत्यय है 'प', 'मझि' शब्द के मध्य में प जुड़कर रूप बनेगा- मपंझि जिसका अर्थ होगा अनेक मुखिया।

इसी प्रकार दल शब्द एक के द्वारा मारना इस अर्थ का बोधक है। यदि 'प' प्रत्यय दल के मध्य में जोड़ दिया जाए तो रूप बनेगा दपल जिसका अर्थ होगा परस्पर मारना।

(iv) पूर्वान्त प्रत्यय-संयोगी-इस वर्ग की भाषाओं में प्रत्यय, प्रकृति के पहले तथा प्रकृति के बाद में, दोनों स्थानों पर लगता है। न्यूगिनी द्वीप की 'मफ़ोर' भाषा इसी परिवार की है। उदाहरण-

मफ़= सुनना, ज= मैं, उ= तू, तुझे। जमफ़उ जिसका अर्थ होगा मैं सुनता हूँ तुझे अर्थात् मैं तेरी बात सुनता हूँ।

(v) सर्वप्रत्यय-संयोगी-कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें आदि, मध्य तथा अन्त, तीनों स्थानों पर कहीं भी प्रत्यय जुड़ जाते हैं। उन्हें सर्वप्रत्यय-संयोगी कहा गया है। 'मलय शाखा' की भाषाएँ इसका उदाहरण हैं।

3. श्लिष्ट या विभक्तिप्रधान भाषाएँ: इस वर्ग की भाषाओं में मूल प्रकृति के साथ विभक्तियाँ जोड़ने पर मूल प्रकृति में भी परिवर्तन हो जाता है। इसीलिए इस वर्ग की भाषाओं को भी विभक्तिप्रधान भाषाएँ या शिल्लष्ट योगात्मक कहा जाता है। यद्यपि प्रत्यय प्रधान और विभक्ति प्रधान दोनों ही प्रकार की भाषाओं में प्रत्यय जुड़ते हैं परन्तु दोनों में अन्तर यही है कि प्रत्यय प्रधान भाषाओं में प्रत्ययों की पृथक् पहचान बनी रहती है। शब्द रूप में से यदि प्रत्यय को निकाल दिया जाए तो मूल प्रकृति रह जाती है, परन्तु विभक्ति प्रधान भाषाओं में ऐसा नहीं होता। शब्द रूप में से यदि प्रत्यय निकाल दिया जाए तो मूल प्रकृति अपने पूर्व रूप में नहीं रहती। ऐसे संयोग को “नीर-क्षीर-न्याय” (दूध और पानी की तरह मिलना) कह सकते हैं। उदाहरण के रूप में संस्कृत का अपठत् रूप देखिए। इसमें से यदि त् प्रत्यय प्रथक् किया जाए तो अपठ् रूप रहता है। जो मूल प्रकृत नहीं है। मूल प्रकृति है पठ्। प्रत्ययप्रधान भाषाओं की अपेक्षा विभक्तिप्रधान भाषाओं की रूप-रचना क्लिष्ट होती है। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा अरबी इसी प्रकार की भाषाएँ हैं।

श्लिष्ट या विभक्तिप्रधान भाषाओं को भी उपवर्गों में बाँटा जा सकता है-

(i) अन्तर्मुखी विभक्तिप्रधान भाषाएँ: इसमें विभक्ति, प्रकृति के अन्दर ही जुड़ती है। ‘सामी परिवार’ की प्रमुख भाषा अरबी तथा ‘हामी परिवार’ की मिस्री भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। इन भाषाओं की प्रकृति (मूलशब्द) में प्रायः तीन व्यंजन ध्वनियाँ होती हैं तथा प्रत्यय प्रायः स्वर होते हैं। उदाहरण, अरबी भाषा से-

प्रकृति (धातु या मूलशब्द) है- कृ त् ल् = अर्थात् मारना। इसमें विभिन्न स्वरों अर्थात् प्रत्ययों को जोड़कर- कृतल = उसने मारा, कातिल = मारने वाला, कितल = आघात, कित्ल = शत्रु, कुतिल = वह मारा गया तथा यक्तुलु = वह मारता है, आदि-आदि अनेक रूप बनाये जाते हैं।

इसी प्रकार ‘कृ त् ब्’ धातु में स्वरों अर्थात् प्रत्ययों को जोड़कर- ‘किताब’ = पुस्तक, कातिब = लिखने वाला, कुतुब = पुस्तकें, मकतब = सकूल, कुतबा = लेख, मकतूब = लिखित तथा मकतूबात = (लिखित का बहुवचन) आदि अनेक रूप बनते हैं।

अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान भाषाओं में भी दो अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं-

(क) संयोगात्मक - उदाहरण ‘अरबी’ भाषा है। इसमें शब्दों में अलग से सहायक सम्बन्धतत्त्व (बहुवचन आदि) लगाने की आवश्यकता नहीं होती है।

(ख) वियोगात्मक - उदाहरण ‘हिब्रू’ भाषा है। इसमें शब्दों के बाद सम्बन्धतत्त्व (बहुवचन आदि) अलग से लगाए जाते हैं।

(ii) बहिर्मुखी विभक्तिप्रधान भाषाएँ: इसमें विभक्ति (प्रत्यय) प्रकृति के बाहर जुड़ती है। यह प्रकृति के पूर्व में भी जुड़ सकती है तथा बाद में भी। भारोपीय परिवार की भाषाएँ संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता,

हिन्दी आदि इसी वर्ग की हैं।

बहिर्मुखी विभक्तिप्रधान भाषाओं में भी दो अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं-

(क) संयोगात्मक - उदाहरण 'संस्कृत' भाषा है। इसमें सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्वके साथ घुलमिल जाता है। संस्कृत के कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं-

पठ् +ति = पठति। यहाँ ति प्रत्यय पठ् धातु से बाहर लगा है।

उपतिष्ठति = यहाँ उप उपसर्ग तिष्ठ (स्था) धातु से पूर्व और ति प्रत्यय अन्त में प्रकृति से बाहर लगे हैं।
रामाभ्याम् = यहाँ भ्याम् मूल प्रकृति राम से बाहर लगा है।

(ख) वियोगात्मक - उदाहरण 'हिन्दी' भाषा है। इसमें सम्बन्धतत्त्व अलग से लगाए जाते हैं।

हिन्दी में कारकचिह्न (ने, को, पर आदि) अलग से लगाए जाते हैं।

4. प्रक्षिष्ट या समासप्रधान भाषाएँ: प्रक्षिष्ट से तात्पर्य है- प्रकर्ष रूप से चिपका हुआ (क्षिष्ट)। इन भाषाओं में प्रत्यय प्रकृति में इस प्रकार से समाविष्ट हो जाता है कि उसे पृथक् रूप से पहचानना कठिन होता है। ऐसे संयोग को "दधि-घृत-न्याय" (दही में घी की तरह मिले हुए) कह सकते हैं। प्रकृति और प्रत्यय जुड़कर एक नया ही रूप बनता है, जिसमें प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ से ही अनुमान लगाया जा सकता है। इन भाषाओं को समास प्रधान भाषा भी कहते हैं। उत्तरी अमरीका की 'चेरोकी' भाषा, ग्रीनलैण्ड की 'एस्किमो' भाषा तथा पिरैनीज पर्वतमाला की 'बास्क' भाषा इसी वर्ग की हैं। इन प्रक्षिष्ट या समासप्रधान भाषाओं के भी दो उपविभाग हैं-

(क) पूर्ण प्रक्षिष्ट या पूर्णतया समासप्रधान भाषाएँ, तथा

(ख) आंशिक प्रक्षिष्ट या आंशिक समासप्रधान भाषाएँ।

(क) पूर्ण प्रक्षिष्ट या पूर्णतया समासप्रधान भाषाएँ- वे हैं, जिनमें प्रकृति तथा प्रत्यय आदि के रूप में, 'संज्ञा' 'सर्वनाम' 'विशेषण' आदि 'कर्ता', 'कर्म' तथा 'क्रिया' आदि सबको एक समान समस्त पद के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। सम्पूर्ण वाक्य एक पद जैसा प्रतीत होता है, जिसे वाक्यपद भी कह सकते हैं। 'चेरोकी' भाषा का यह प्रसिद्ध उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है- नाधोलिनिन = हमारे लिए एक नौका लाओ।

इस उदाहरण में नतेन = लाना (क्रिया), अमोखोल = नौका (संज्ञा कर्म), निन = हम (सर्वनाम, सम्प्रदान)

(ख) आंशिक प्रक्षिष्ट या आंशिक समासप्रधान भाषाएँ- वे हैं, जिनमें पूर्ण प्रक्षिष्ट की भाँति कर्ता, क्रिया, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि सबका समास न होकर मुख्य रूप से सर्वनाम तथा क्रिया का ही समास होता है। फलतः, इन भाषाओं में उतने बड़े-बड़े वाक्यपद प्राप्त नहीं होते हैं। पिरैनीज पर्वतमाला में बोली जाने वाली 'बास्क' भाषा ऐसी ही है। उसी भाषा से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं-

हर्कात् = मैं तुझे (सर्वनाम्) ले जाता हूँ (क्रिया)।

नकार्सु = तु मुझे (सर्वनाम) ले जाता है (क्रिया)।

दकार्किओत = मैं इसे उसके (सर्वनाम) पास ले जाता हूँ (क्रिया)।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि उपर्युक्त भाषाओं में प्रायः सभी पद पूरे-पूरे वाक्यों के रूप में व्यवहृत होते हैं।

आकृतिमूलक (रूपात्मक) वर्गीकरण की समीक्षा

आकृतिमूलक वर्गीकरण के उपर्युक्त चार रूप अत्यन्त स्थूल हैं। यद्यपि यह वर्गीकरण भाषा की सामान्य प्रवृत्ति को जानने के लिए स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध को जानने के लिए यह वर्गीकरण उपयुक्त नहीं है। इस वर्गीकरण के अनुसार एक वर्ग में अनेक ऐसी भाषाएँ रखी गई हैं, जो भौगोलिक दृष्टि से परस्पर बहुत दूर हैं और उनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार प्रत्यय प्रधान वर्ग की तुर्की, मुण्डा, द्रविड आदि में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त कोई भी भाषा किसी एक विशेषता का प्रतिनिधित्व नहीं करती, बल्कि उसमें अनेक विशेषताओं का समावेश है।

1.5.2. परिवारमूलक वर्गीकरण

विश्व की समस्त भाषाओं को कुछ प्रमुख परिवारों में विभाजित करना परिवारमूलकवर्गीकरण कहलाता है। एक मूल भाषा से कालान्तर में अनेक भाषाएँ विकसित हो जाती हैं। वे सभी भाषाएँ एक ही परिवार की मानी जाती हैं। जैसे एक पूर्वज से अनेक पीढ़ियाँ विकसित हो जाती हैं और बहुत समय के बाद उन पीढ़ियों की अनेक पीढ़ियाँ बन जाती हैं उसी प्रकार एक मूल भाषा से भाषाओं की पीढ़ियाँ विकसित होकर परस्पर स्वतंत्र हो जाती हैं, परन्तु रूप रचना और शब्द साम्य के आधार पर उन सब भाषाओं की सामान्य विशेषताओं को जाना जा सकता है और उसी आधार पर उनके परिवार का निर्णय किया जा सकता है। संस्कृत भाषा से परिचय होने के बाद अठारहवीं शताब्दी के अन्त में यूरोप में भाषाओं की परस्पर तुलना प्रारम्भ हुई और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का जन्म हुआ। तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप भाषाओं के विभिन्न परिवारों का निर्णय हुआ है। पारिवारिक वर्गीकरण को ऐतिहासिक वर्गीकरण भी कहा जाता है, क्योंकि परिवारों का विकास क्रमशः हुआ है और भाषाओं के ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखते हुए ही अनेक भाषाओं के मूल परिवार का निर्णय हो सका है।

विश्व के भाषा-परिवारों का संक्षिप्त परिचय

यद्यपि अभी तक विश्व की सभी भाषाओं का अध्ययन ठीक-ठीक नहीं हो पाया है तथापि जिन भाषाओं का अध्ययन हो चुका है, उन्हें पारस्परिक समानता के आधार पर विद्वानों ने विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत

किया है। परिवारों की संख्या यद्यपि अभी तक अनिश्चित है, क्योंकि 'फ्रेडरिक मूलर' आदि विद्वान् जहाँ 100 भाषा-परिवारों की कल्पना करते हैं, वहाँ अन्य विद्वानों की कल्पना 250 परिवारों तक जा पहुंचती है। कुछ विद्वान् केवल 10 भाषा-परिवार ही मानते हैं। 'डॉ. धीरेन्द्र वर्मा' ने 12 भाषा-परिवार गिनाये हैं, जबकि 'डॉ. दवेन्द्रनाथ शर्मा' ने "अपेक्षाकृत निर्विवाद और प्रमुख" भाषा-परिवारों की संख्या 18 मानी है। सम्पूर्ण भाषाओं को, भौगोलिक आधार पर, पहले चार खण्डों में विभाजित किया है, जैसे- (क) यूरेशिया खण्ड, (ख) अफ्रीका खण्ड, (ग) प्रशान्त महासागरीय खण्ड तथा (घ) अमेरीका खण्ड। इसके पश्चात् इन विद्वानों ने उपर्युक्त खण्डों में अनेक भाषा-परिवारों की गणना की है।

(क) यूरेशिया खण्ड

1. भारोपीय (भारत-यूरोपीय) परिवार
2. द्राविड़ परिवार
3. बुरुशस्की परिवार
4. काकेशी परिवार
5. यूराल-अल्ताई परिवार
6. चीनी परिवार
7. जापानी-कोरियाई परिवार
8. अत्युत्तरी (हाइपरबोरी) परिवार
9. बास्क परिवार
10. सामी-हामी परिवार (सामी-हामी परिवार की गणना यूरेशिया तथा अफ्रीका इन दोनों खण्डों में की जाती है।)

(ख) अफ्रीका खण्ड

11. सूडानी परिवार
12. बान्तू परिवार
13. होतेन्तोत-बुशमैनी परिवार

(ग) प्रशान्त महासागरीय खण्ड

14. मलय-पोलिनेशियाई परिवार

15. पापुई परिवार
16. आस्ट्रेलियन परिवार
17. दक्षिण-पूर्व-एशियाई परिवार

(घ) अमरीका खण्ड

18. अमेरीकी परिवार

उपर्युक्त भाषा-परिवारों का संक्षिप्त परिचय क्रमशः इस प्रकार है-

1. भारोपीय (भारत-यूरोपीय) परिवार

इस परिवार का परिचय आगे दिया जाएगा।

2. द्राविड़ परिवार

परिवारकी प्रमुख भाषाएँ और क्षेत्र ये हैं-

1. तमिल (मद्रास में)
2. तेलुगु (आन्ध्र प्रदेश में)
3. कन्नड़ (मैसूर में)
4. मलयालयम (केरल में)

इसी परिवार में गोंडी (मध्य प्रदेश, बुन्देलखंड), कुरुख या ओराओं (बिहार, उड़ीसा), ब्राहुई (बलूचिस्तान) भाषाएँ भी हैं।

1. तमिल- तमिलनाडु और लंका में बोली जाती है। तृतीय शताब्दी ई. पू. से साहित्य मिलता है। यह अत्यन्त समृद्ध भाषा है। इसमें उच्चकोटि का साहित्य मिलता है।
2. तेलुगु- आन्ध्रप्रदेश की भाषा है। आन्ध्र जाति अत्यन्त प्राचीन है। आन्ध्र जाति का नाम ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत और अशोक के अभिलेखों में मिलता है। इसके बोलने वालों की संख्या 3 करोड़ के लगभग है। इसमें संस्कृत शब्द बहुत समाविष्ट हैं। 11वीं सदी से इसका साहित्य मिलता है। इसमें भी तमिल के तुल्य उच्चकोटि का साहित्य है। भाषा में माधुर्य है।
3. कन्नड़-मैसूर राज्य की भाषा है। लिपि तेलुगु से और भाषा तमिल से मिलती-जुलती है। इसमें भी उच्च साहित्य है।
4. मलयालयम- केरल की भाषा है। संस्कृत शब्दों की बहुलता है। यह तमिल भाषा की ही एक शाखा

मानी जाती है। इसमें 13वीं सदी से उच्च कोटि का साहित्य मिलता है। द्राविड़ भाषा-भाषियों की संख्या 8 करोड़ के लगभग है।

मुख्य विशेषताएँ

1. इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. इनमें ए-एँ, ओ-ओंह्रस्व और दीर्घ दोनों हैं।
3. इनमें यूराल-अल्ताई परिवार के तुल्य स्वर-अनुरूपता है।
4. इनमें अन्तिम व्यंजन के बाद अतिलघु अ जोड़ा जाता है।
5. संज्ञाओं का विभाग विवेकी-अविवेकी का उच्च जातीय-निम्नजातीय के आधार पर होता है।
6. दो वचन और तीन लिंग हैं। लिंग का निर्धारण जीवित या निर्जीव वस्तु के आधार पर होता है। लिंग-बोध के लिए 'पुरुष' या 'स्त्री' वाचक शब्द जोड़े जाते हैं।
7. विशेषणों के रूप संज्ञा के अनुसार नहीं चलते हैं।
8. विभक्तियों का काम परसर्गों या प्रत्ययों से लिया जाता है।
9. क्रिया में कृदन्त रूपों की अधिकता है। कर्मवाच्य नहीं होता है।
10. 'निषोधात्मक वाच्य' भी होता है। इसमें लुङ् लकार होता है।
11. मूर्धन्य (टवर्ग) ध्वनियों की प्रधानता है।

3. बुरुशस्की (खजुना) परिवार

क्षेत्र- यह भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में बोली जाती है। कुछ विद्वान् इसका सम्बन्ध मुंडा और द्राविड़ परिवार से मानते हैं।

मुख्य विशेषताएँ

यह सर्वनाम-प्रधान भाषा है। इसमें सम्मानित पुरुष, स्त्री और समकक्ष व्यक्तियों के लिए पृथक्-पृथक् सम्बोधन हैं।

4. काकेशी परिवार

क्षेत्र- इसका क्षेत्र काकेशस पर्वत के समीप का प्रदेश है। यह क्षेत्र काला सागर और कैस्पियन समुद्र के मध्य में है। इसकी प्रमुख भाषाएँ हैं- (1) उत्तरीवर्ग- कर्बिडन, सर्कासियन, चेचेनिश, लेगियन। (2) दक्षिणीवर्ग- जार्जियन, मिग्रेलियन, दासिथ, स्वानियन।

मुख्य विशेषताएँ

1. ये भाषाएँ मुख्यतः अक्षिष्ट योगात्मक हैं परन्तु इनमें प्रक्षिष्ट योगात्मक के भी कुछ लक्षण मिलते हैं। धातु का शब्द में ही समावेश हो जाता है।
2. शब्दरूप पूर्वसर्ग और प्रत्यय के योग से बनते हैं।
3. उत्तरी काकेशी में स्वर कम और व्यंजन अधिक है।
4. कारकों की संख्या बहुत अधिक है। 'अवर' आदि बोलियों में 30 कारक हैं।
5. कुछ बोलियों (चेचेनिश आदि) में 6 लिंग हैं।
6. क्रिया रूप जटिल है। क्रियाओं का संज्ञाओं में समावेश हो जाता है। सर्वनाम और क्रिया का भी योग हो जाता है।

5. यूराल-अल्ताई परिवार

क्षेत्र-यह परिवार उत्तर में उत्तरी महासागर से लेकर दक्षिण में भूमध्य सागर तक, पश्चिम में अटलांटिक महासागर से रूप में ओखोटस्क सागर तक। इसमें हंगरी, टर्की, फिनलैंड आदि भी आते हैं। क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से भारोपीय परिवार के बाद इसका दूसरा स्थान है।

प्रमुख भाषाएँ: इस परिवार के दो वर्ग हैं-

- (क) यूराल वर्ग- 1. फिनो-उग्री (फिनलैंड, हंगरी, नार्वे में)
2. समोयद (साइबेरिया में)
- (ख) अल्ताई वर्ग- 1. तुर्की (टर्की में)
2. मंगोली (मंगोलिया में)
3. मंचुई (मंचूरिया में)

संक्षिप्त परिचय- व्याकरण की दृष्टि से इनमें समानता है, अतः इन्हें एक ही माना जाता है, परन्तु ध्वनियाँ और शब्द समूह पृथक् हैं अतः कुछ विद्वान् इन्हें दो परिवार भी मानते हैं। यूराल वर्ग की फिनी को सुओमी भी कहते हैं। यह फिनलैंड और उत्तरी रूस में श्वेत सागर तक फैली है। इसमें 13वीं सदी तक का प्राचीन साहित्य है। यह उच्चकोटि की साहित्यिक भाषा है। इसमें 'कलेवल' राष्ट्रीय महाकाव्य है। उग्री हंगरी की भाषा है। इसकी मग्यार शाखा में अच्छा साहित्य है। समोयद में कोई विशेष साहित्य नहीं है। यह साइबेरिया की बोली है। अल्ताई परिवार में तुर्की भाषा विशेष महत्त्व की है, परन्तु इसमें से 20वीं शताब्दी में अरबी शब्द निकाल दिए गए। अरबी लिपि को भी हटाकर रोमन लिपि कर दी गई।

मुख्य विशेषताएँ-

1. दोनों परिवारों की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. शब्दों के बाद सम्बन्धवाचक सर्वनाम प्रत्यय के रूप में जोड़े जाते हैं।

6. चीनी परिवार

क्षेत्र- इसका क्षेत्र है- सम्पूर्ण चीन, बर्मा, स्याम, तिब्बत।

प्रमुख भाषाएँ-

1. चीनी (पूरे चीन में)
2. थाई या स्यामी (स्यामा या थाईलैंड में)
3. ब्रह्मी या बर्मी (ब्रह्मा या बर्मा में)
4. तिब्बती (तिब्बत में)
5. अनामी (कम्बोडिया, कोचीन चीन, टोंकिन में)

इस परिवार को 'तिब्बत-चीनी परिवार' और 'एकाक्षर परिवार' भी कहते हैं। बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से भारोपीय परिवार के बाद चीनी-परिवार का दूसरा स्थान है। यह परिवार चीन, स्याम, बर्मा, तिब्बत आदि में फैला हुआ है। इसके बोलने वालों की संख्या 1 अरब से अधिक है।

1. चीनी- इसका सांस्कृतिक इतिहास 5 हजार वर्ष पुराना है। इसमें लगभग 4 हजार वर्ष पूर्व (ईसा पूर्व 2000 वर्ष) से साहित्य मिलता है। विश्वविख्यात दार्शनिक 'कनफूसियस' ने छठी शताब्दी ई. पू. में पुकिंग कहलाने वाले इतिहास ग्रन्थों का संपादन किया था। इसके लिखित और उच्चरित रूपों में पर्याप्त अन्तर है। इसमें शब्द-संख्या 42 हजार के लगभग है। यह चित्र-लिपि में लिखी जाती है। यह दाएँ से बाएँ उर्दू आदि के तुल्य लिखी जाती है।

2. थाई- इसको स्यामी भी कहते हैं। यह थाइलैंड में बोली जाती है। बर्मा और आसाम के कुछ भागों में भी बोली जाती है।

3. ब्रह्मी या बर्मी- बर्मा की भाषा है। बर्मी लिपि ब्राह्मी की पुत्री है।

4. तिब्बती- इसको भीट भाषा भी कहते हैं। इस पर भारत का भी बहुत प्रभाव है।

5. अनामी- यह कम्बोडिया, कोचीन, चीन, टोंकिन की भाषा है। लिपि चीनी है। चीनी शब्द भी अधिक है। अब रोमन में भी लिखी जाती है।

मुख्य विशेषताएँ-

1. ये भाषाएं अयोगात्मक हैं।
2. इन भाषाओं में शब्द के स्थान का महत्त्व है।
3. इन्हें एकाक्षर भाषा भी कहते हैं। पद-क्रम से अर्थनिर्णय होता है।
4. सुर या तान के आधार पर भी अर्थों का निर्णय होता है।
5. चीनी में 4 सुर हैं- (1) निम्न, (2) निम्न-मध्य, (3) निम्न-उच्च, (4) उच्च।
6. अर्थ की स्पष्टता के लिए प्रायः दो शब्दों को जोड़ देते हैं। जैसे- फू (पिता), मू (माता), चिन (संबन्धी), अतः फू-चिन (पिता), मू-चिन (माँ)।
7. व्याकरण का पूर्णतया अभाव है।
8. अनुनासिक ध्वनियों की बहुलता है। ड, ज ध्वनियाँ बहुत अधिक मात्रा में प्रयुक्त होती हैं।

7. जापानी-कोरियाई परिवार

क्षेत्र- जापान और कोरिया

प्रमुख भाषाएँ- (1) जापानी (जापान में)

(2) कोरियाई (कोरिया में)

(1) जापानी भाषा- जापान की भाषा है। बोलने वालों की संख्या 6 करोड़ है। इसमें 7वीं सदी ई. तक पुराना-साहित्य है। लिपि चीनी है। जापानी की नवीन लिपि बनाने का श्रेय एक संस्कृतज्ञ को है, अतः जापानी वर्णमाला को 'अ इ उ ए ओ' कहते हैं। जापानी के लिखित और मौखिक रूप में पर्याप्त अन्तर है। दोनों को एक करने का प्रयत्न चल रहा है।

(2) कोरियाई-भाषा कोरिया में बोली जाती है। बोलने वालों की संख्या लगभग 2 करोड़ है। इसमें चीनी शब्दों की अधिकता है। 15वीं सदी तक चीनी लिपि थी, अब इसकी अपनी लिपि है जो (देवनागरी) पर आश्रित है।

मुख्य विशेषताएँ-

1. ये भाषाएँ अक्षिष्ट योगात्मक हैं।
2. शब्द चीनी के तुल्य एकाक्षर नहीं अपितु अनेकाक्षर हैं।
3. ध्वनि-समूह सरल है। संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग बहुत कम है।

4. परसर्गों के द्वारा संबन्धतत्त्व का काम लिया जाता है। जैसे- ने = द्वारा। नो = का। नि = में। उए = पर।
5. बहुवचन बनाने के लिए पुनरुक्ति की जाती है। यामा = पहाड़, यामा-यामा = कई पहाड़।
6. शब्द के सभी अक्षरों पर सामान्यतया समान बल दिया जाता है।
7. स्त्री. या पुं. वाचक शब्द पहले रखकर लिंग-बोध कराया जाता है। जैसे- इनु (कुत्ता), ओ (पुं.), मे (स्त्री.), अतः ओ- इनु (कुत्ता), मे- इनु (कुतिया)।
8. 'वचन' में मिश्रण है। को (बच्चा), दोमों (बहु.), को दोमो (कई बच्चे, एक बच्चा भी)।
9. 'पुरुष' की धारणा भी अस्पष्ट है। मैं, हम, तुम आदि का प्रयोग नहीं होता। 'दोका ए इकिमासु का' (कहां जाता है? मैं, तू, वह, कोई भी)।
10. सभी पुरुषों में एक ही रूप रहता है। मैं, तू आदि नहीं लगते। प्रश्नवाचक 'का' लगाने से प्रश्न-बोधक हो जाता है।

8. अत्युत्तरी (हाइपरबोरी) परिवार

क्षेत्र- साइबेरिया का उत्तर-पूर्वी प्रदेश।

- प्रमुख भाषाएँ-1. युकगिर (आर्कटिक महासागर के किनारे, उत्तर-पश्चिम में)
2. कमचटका (या इटेल्लिमश, कमचटका में)
 3. चुकची (उत्तर-पूर्वी छोर में)
 4. ऐनू (जापान के उत्तर में सखालिन द्वीपों में)।

ये भाषाएँ एशिया के उत्तर-पूर्वी छोर में बोली जाती हैं। अत्यन्त उत्तर में होनेसे इन्हें 'अत्युत्तरी' कहते हैं। 'हाइपर-बोरी' का अर्थ है- हाइपर-अत्यन्त, बोर-उत्तरी। इन भाषाओं का विशेष अध्ययन नहीं हुआ है।

मुख्य विशेषताएँ-

1. संबन्धसूचक कारक-चिह्न अन्त में जुड़ते हैं। जैसे- ऐनू में, कोतत्सि आदमी का घर।
2. सहायक क्रियाओं से काल का निर्णय होता है। जैसे- ऐनू में, कु (मैं), किक (मारना), निसा (भूतकाल)- कु किक (मैं मारता हूँ), कु किक निसा (मैंने मारा)।
3. संख्याएँ दशमिक या विंशतिक प्रणाली से बनती हैं। जैसे- ऐनू में, रे- कशिम-वन (3+10 = 13), इन होत्से(4x20 = 80)।

9. बास्क परिवार

क्षेत्र- फ्रांस और स्पेन की सीमा पर पेरिनीज पर्वत के पश्चिमी भाग में।

प्रमुख भाषाएँ- इसमें 7 बोलियाँ हैं। इसके बोलने वाले लगभग 2 लाख लोग हैं।

मुख्य विशेषताएँ-

1. बास्क अश्लिष्ट अन्त-योगात्मक भाषा है। क्रियारूप प्रश्लिष्ट हैं।
2. विशेषण बाद में लगता है। जैसे जल्दी (घोड़ा), जल्दी अ (वह घोड़ा)।
3. क्रियारूपों में बहुत जटिलता है। कर्तृवाच्य नहीं है, कर्मवाच्य ही है।
4. कर्ता के स्थान के आधार पर वर्तमान और भूतकाल का निर्णय होता है। कर्ता अन्त में होगा तो वर्तमान काल। कर्ता आदि में हो तो भूतकाल। गु, गि (हिम)। जैसे- दकि-गु (हम इसे जानते हैं), गि-नकि (हम इसे जानते थे)।
5. इसमें क्रिया और सर्वनाम मिले होते हैं। जैसे- दकार्किओत = मैं इसको उसके पास ले जाता हूँ।
6. समास हो सकते हैं। एक या अधिक मध्यगत वर्ण लुप्त हो जाते हैं। जैसे- ओदेइ (बादल)+ओत्स (आवाज) = ओदोत्स (गर्जन)
7. शब्दकोष बहुत सीमित है। अमूर्त भावों के लिए शब्द नहीं है। अरब (आदमी की बहिन), अहिज़्प (औरत की बहिन) शब्द हैं, पर बहिन के लिए स्वतंत्र कोई शब्द नहीं है।
8. सर्वनाम सेमिटिक-हैमिटिक परिवार से मिलते-जुलते हैं।

10. सामी-हामी परिवार

क्षेत्र- (क) सामी- (एशिया में) अरब, ईराक, फिलिस्तीन, सीरिया, (अफ्रीका में) मिश्र, इथियोपिया, तुनिसिया, अल्जीरिया, मोरक्को।

(ख) हामी- (अफ्रीका में) लीबिया, सोमालीलैंड, इथियोपिया।

प्रमुख भाषाएँ-(क) सामी- अक्कदियन, कनानित, अरमाइक, अरबी, एबीसीनियन।

(ख) हामी- लीबियन, मेराइटिक, एथियोपिक (कुशीत), मिश्री।

सेम और हेम नामक दो भाइयों के नाम पर ये नाम पड़े हैं। बाइबिल की एक कथा के अनुसार हजरत नौह के दो पुत्र थे- सेम और हेम। ज्येष्ठ पुत्रा सेम अरब, असीरिया और सीरिया आदि के निवासियों के आदि-पुरुष थे। दूसरे पुत्रा हेम अफ्रीका के मिश्री, इथियोपिन आदि लोगों के आदि पुरुष थे।

सामी परिवार की भाषाएँ दक्षिण-पश्चिमी एशिया में फैली हुई हैं। इस परिवार की मुख्य भाषा अरबी एशिया के अतिरिक्त अफ्रीका के उत्तरी भाग में फैली हुई है। मोरक्को से लेकर स्वेज तक इसका आधिपत्य है। मोरक्को और अल्जीरिया की राजभाषा अरबी ही रही।

हामी अफ्रीका के लीबिया, सोमालीलैंड और इथियोपिया प्रदेशों में फैली हुई है। इस भाषा के बोलने वाले अफ्रीका के दक्षिणी और मध्य भाग में भी फैले हुए हैं। प्राचीन मिश्री भाषा में 3 हजार वर्ष पुराना साहित्य और प्राचीन अभिलेख मिलते हैं। प्राचीन मिश्री ने सामी और हामी के बीच पुल का काम किया है।

कुछ विद्वान् सामी-हामी को एक परिवार मानते हैं, कुछ दो पृथक् परिवार, परन्तु समानताएँ अधिक हैं, अतः एक परिवार मानना उचित है।

(क) सामी (सेमिटिक) परिवार की मुख्य विशेषताएँ

1. धातुएँ (अर्थतत्त्व, त्ववज) 3 व्यंजनों वाली हैं। जैसे- क् त् ब्, स् ज् द्, स् ल् म्। परन्तु अपवाद के रूप में कुछ धातुएँ दो व्यंजन वाली भी हो गई हैं।
2. अर्थों को प्रकट करने के लिए आदि और अन्त में भी प्रत्यय जोड़े जाते हैं। जैसे- क् त् ब् झ मक्तब (स्कूल), मक्तूब (लिखा हुआ, पत्र)। स् ल् म् झ मुसल्लम (माना हुआ), सलामती (सुरक्षा), मुस्लिमा (मुस्लिम स्त्री)। ज ल म झ मुज़लिमाना (अत्याचारपूर्ण)।
3. शब्दों का लिंग व्याकरण पर निर्भर है। स्त्रीलिंग-प्रत्यय 'त्' है।
4. तीन कारक हैं- कर्ता, कर्म, सम्बन्ध। इनसे अन्य कारकों का भी काम लिया जाता है।
5. सामी में समास का अभाव है।
6. प्राचीन सामी संयोगात्मक थी। कारक आदि के प्रत्यय जुड़े होते थे अब वियोगात्मक हो गई है। कारक-चिह्न का काम निपात करते हैं। ये स्वतन्त्र रहते हैं वियोगात्मक में वर्तमान हिब्रू मुख्य है।

(ख) हामी (हैमिटिक) परिवार की मुख्य विशेषताएँ-

1. सम्बन्धतत्त्व का योग आदि और अन्त दोनों जगह होता है। संज्ञा शब्दों में प्रत्यय प्रायः अन्त में लगते हैं और क्रियारूपों में आदि-अन्त दोनों स्थानों पर। इसमें प्रेरणार्थक, पुनः पुनः अर्थवाले और आत्मनेपद के समकक्ष भी रूप हैं। सोमाली भाषा में द्वित्व से पुनः पुनः अर्थ का बोध होता है। जैसे- लब (मोड़ना), लब-लब (बारबार मोड़ना)। कभी कुछ स्वरभेद भी हो जाता है। जैसे- गल (जाना), गेलि (अन्दर रखना)।

2. काल का विचार महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्रिया-पद क्रिया की पूर्णतया या अपूर्णता बताते हैं। काल का सूक्ष्म बोध सहायक क्रियाएँ कराती हैं।
3. वचन प्रायः एकवचन और बहुवचन हैं। 'नम' भाषा में द्विवचन भी है। बहुवचन भी दो प्रकार का है- 1. सामान्य बहुवचन, 2. समूहात्मक बहुवचन। रूप भी अलग हैं। जैसे-लिसा (आँसू, बहु.), लिसने (आँसू की धारा)। बिला (पतिंगा, एक.), बल (पतिंगे), बिल्ले (पतिंगों का समूह)।

11. सूडानी (सूडान) परिवार

क्षेत्र- इस परिवार की भाषाएँ अफ्रीका में भूमध्य रेखा के उत्तर में पश्चिम से पूर्व तक बोली जाती हैं। इसके उत्तर में हामी परिवार है और दक्षिण में बान्तू परिवार।

प्रमुख भाषाएँ- इस परिवार में 43 भाषाएँ हैं जिनमें से प्रमुख हैंः

1. वुले, 2. मन-फू, 3. कनूरी, 4. नीलोटिक, 5. बन्तूइड,
6. हौसा।

मुख्य विशेषताएँ-

1. बहुवचन का भाव स्पष्ट नहीं है। जैसे- ह्रस्व स्वर को दीर्घ करना। ह्रस्व-ओं को दीर्घ-ओ। रोँर (जंगल), रोर (कई जंगल)।
2. इस परिवार में कुछ विशेष प्रकार के शब्द हैं, इन्हें कई नाम दिए गए हैं- शब्द-चित्र, ध्वन्यात्मक, वर्णनात्मक क्रिया-विशेषण। जैसे- हिन्दी में खटखट, पट-पट, भड़भड़, तड़तड़ आदि। ये शब्द क्रियाविशेषण या विशेषण होते हैं जैसे- 'जो' (चलना) के बाद ये शब्द रखने पर ये विभिन्न अर्थ होंगे-

क-क (सीधा), त्य-त्य (जल्दी), त्यो-त्यो (लम्बी चाल से), सी-सी (छोटे कदम रखकर)। जो क-क (सीधे चलना)।

12. बान्तू (बान्तू) परिवार

क्षेत्र- दक्षिणी अफ्रीका का अधिकांश भाग एवं जंजीबार द्वीप। इसके दक्षिण-पश्चिम में होतेन्तो-बुशमैनी है और उत्तर में सूडान परिवार।

प्रमुख भाषाएँ- इस परिवार में 150 भाषाएँ हैं। प्रमुख भाषाओं को तीन वर्गों में बाँटा गया है।

1. पूर्वी वर्ग- जुलू, काफिर, स्वाहिली।
2. मध्य वर्ग- सेसुतो।

3. पश्चिमी वर्ग- हेरेरी, कांगो।

बान्तू शब्द मनुष्य का वाचक है। बा शब्द बहुवचन सूचक है और न्तु शब्द मनुष्य का बोधक। इस परिवार की सबसे महत्वपूर्ण भाषा जंजीबार की 'स्वाहिली' है। यह अफ्रीका के पूर्वी तट की जनभाषा है। इसकी लिपि अब रोमन है। पहले यह अरबी लिपि में लिखी जाती थी।

मुख्य विशेषताएँ-

1. बान्तू भाषाएँ अक्षिष्ट योगात्मक हैं।
2. प्रत्ययों का योग पूर्व में होता है। जैसे- बान्तू - बा (बहु.), न्तु (आदमी)। प्रत्यय शब्द से पहले लगते हैं।
3. लिंग-विचार का अभाव है। 'वह' (पुं, स्त्री.) के लिए शब्द नहीं है।
4. स्वर-भेद से अर्थभेद होता है। जैसे- होफिनेल्ला (बाँधना), होफिनोल्ला (खोलना)।
5. इसकी दक्षिणपूर्वी भाषाओं में क्लिक ध्वनियाँ भी मिलती हैं।
6. सभी शब्दों के अन्त में स्वर होते हैं। संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग नहीं होता। परन्तु नासिक्यों का संयोग देखा जाता है। जैसे न्तु। ध्वनि साम्य तथा संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग न होने के कारण इस परिवार की भाषाएँ कोमल और मधुर हैं।

13. होतेन्तोत-बुशमैनी (खोइम) परिवार

क्षेत्र- दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका, ओरेंज नदी से नगामी झील तक।

प्रमुख भाषाएँ- इस परिवार की बुशमैन (सान), होतेन्तोत (नामा), दमारा, सन्दवे हैं।

होतेन्तोत और बुशमैन जातियाँ अफ्रीका की मूल निवासी मानी जाती हैं। बुशमैन अपने आपको 'खोइम' (मनुष्य) कहते हैं, अतः यह 'खोइम' परिवार भी कहा जाता है। इन भाषाओं ने बान्तू और सूडान परिवार को भी प्रभावित किया है। जुलू पर भी इनका प्रभाव है।

मुख्य विशेषताएँ-

1. इस परिवार की भाषाओं में 'क्लिक' या अन्तःस्फोटात्मक ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं। क्लिक ध्वनियों के उच्चारण में श्वास बाहर न छोड़कर अन्दर खींचा जाता है। अतः इन ध्वनियों को (अन्तःस्फोटात्मक) ध्वनियाँ कहा जाता है। क्लिक ध्वनियों के 5 भेद हैं- दन्त्य, मूर्धन्य, पार्श्विक, तालव्य और ओष्ठ्य।
2. लिंग-विचार पुरुषत्व या स्त्रीत्व पर निर्भर न होकर चेतन एवं अचेतन, सजीव-निर्जीव, पर निर्भर है।
3. बहुवचन बनाने के 50-60 प्रकार हैं। जिनमें द्वित्व (द्विरुक्ति) करना भी एक प्रकार है।

4. होतेन्तोत में शब्द प्रायः एकाक्षर हैं।
5. होतेन्तोत में तीन वचन (एक, द्वि., बहु.) हैं।
6. होतेन्तोत में उत्तम-पुरुष, द्विवचन, बहु. के दो-दो रूप होते हैं-
(क) वक्ता-सहित, (ख) वक्ता-रहित।

14. मलय-पोलिनेशियाई परिवार

क्षेत्र- पश्चिम में अफ्रीका के मेडागास्कर द्वीप से लेकर पूर्व में ईस्टर द्वीप तक, उत्तर में फारमोसा से लेकर दक्षिण में न्यूजीलैंड तक। इसमें सुमात्रा, जावा, बोर्नियो आदि द्वीप संमिलित हैं।

प्रमुख भाषाएँ-

- (क) इण्डोनेशियाई (हिन्द-द्वीपीय या मलायन) - मलय (मलाया, सुमात्रा में), जावी (जावा में), सुन्दियन (जावा के एक भागमें), दयक (बोर्निया में), फारमोसी (फारमोसा में), मलगसी (या होवा, मेडागास्कर में), तगल (फिलिपीन में)।
- (ख) मेलानेशियाई (कृष्णद्वीपीय) - फिजीयन (फिजी द्वीप में)।
- (ग) मिक्रोनेशियाई (लघुद्वीपीय) - मिक्रोनेशियन (कैरोलिन, मार्शल, गिलबर्ट आदि द्वीपों में)।
- (घ) पोलिनेशियाई (बहुद्वीपीय) - मओरी (न्यूजीलैंड में), हवाईयन (हवाई द्वीप में), टोंगन (टोंगा द्वीप में), समोअन (समोआ द्वीप में)।

इस भाषा परिवार का क्षेत्र अनेक द्वीपों में फैला हुआ है। द्वीपीय या 'मलय-पोलिनेशियन' और दक्षिणी द्वीपसमूह के आधारपर 'आस्ट्रोनेशियन' भी कहते हैं। द्वीपों में परस्पर दूरी होते हुए भी भाषा साम्य है। सुमात्रा और मेडागास्कर 3 हजार मील की दूरी पर हैं, परन्तु दोनों भाषाओं में घनिष्ठ साम्य है। सम्भवतः किसी समय सुमात्रा से मेडागास्कर तक स्थल था, जो जल में डूब गया और छोटे-छोटे द्वीप रह गए।

जावा-सुमात्रा में कभी भारत के उपनिवेश थे। यहाँ संस्कृत भाषा का प्रभुत्व था। जिस की भाषा का नाम 'कवि' (कवियों या विद्वानों की भाषा) है। इसमें 700 ई. तक का प्राचीन साहित्य मिलता है। जिस पर संस्कृत, मुख्यतया रामायण, का प्रभाव है। इसपर फारसी, अरबी, डच आदि भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है। अरबी और संस्कृत के मिले शब्द मिलते हैं- जवाहर मनिकम (रत्न), शपथ-मंग-मंग (शाप)। जावा में व्यक्तियों, नगरों आदि के नाम संस्कृत-निष्ठ हैं। जैसे-सोकर्नो (सुकर्ण), सुहार्तो (सुहृत्), सुरादिपरु (सुराधिपुर), ब्रोमा (ब्रह्मा इव बर्मा), जोग्यकर्त (अयोध्याकृत), बोएदिदर्म (बुद्धि-धर्म), जसविदग्द (यशोविदग्ध), अरिय-सुतीर्त (आर्य-सुतीर्थ), सूर्यो-प्रनत (सूर्य-प्रणत), सख्रोविर्य (शस्त्र-वीर्य)।

जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों में 5वीं सदी ई. तक के शिलालेख भी मिलते हैं। 15वीं सदी तक यहाँ संस्कृत का विशेष प्रचारथा। वहाँ बड़े-बड़े संस्कृत-शिक्षा के केन्द्र थे। कम्बोज (कम्बोडिया) में तंत्र-विद्या एवं संस्कृत का अध्ययन होता था, परन्तु मुसलमानों के अधिकार से संस्कृत छिन्न-भिन्न हो गई।

मुख्य विशेषताएँ-

1. प्रायः सभी भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. धातुएँ प्रायः दो अक्षरों वाली हैं।
3. धातु के मध्य में प्रत्यय जोड़कर क्रिया रूप बनाए जाते हैं। आदि-योग, अन्त-योग भी मिलता है। जैसे सुलत् झ सुंगमुलत्(लिखा)। सकर्मक, अकर्मक, कर्मवाच्य, प्रेरणार्थक, भृशार्थक (यङ्) रूप मिलते हैं।
4. मध्य या अन्त में वर्ण जोड़कर पद बनाए जाते हैं। जैसे- तगल भाषा में, सुलत् (लेख), सुनुलत् (लिखना), सुंगमुलत् (लिखा)।
5. बलाघात-स्वर का प्रयोग होता है।

15. पापुई परिवार

क्षेत्र- मलाया और पोलिनेशिया के मध्य न्यूगिनी, सोलोमन द्वीप-समूह आदि।

प्रमुख भाषाएँ- यह भाषा परिवार छोटा है। न्यूगिनी की मफोरभाषा महत्त्वपूर्ण है।

मुख्य विशेषताएँ-

1. ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. आदि और अन्त में शब्द जोड़कर पद बनाए जाते हैं। जैसे- न्यूगिनी की मफोर भाषा में, म्प्र (सुनना) झ ज-म्प्र (मैं सुनता हूँ), सी-म्प्र (वह सुनता है), सी-म्प्र (सुनते हैं)। कर्म को जोड़ना-ज-म्प्र-अऊ (मैं तरी बात सुनता हूँ)। बहुवचन 'सी' लगाकर- स्नून (आदमी) झ स्नून-सी (कई आदमी)।

16. आस्ट्रेलियन परिवार

क्षेत्र- संपूर्ण आस्ट्रेलियन महाद्वीप तथा तस्मानिया।

प्रमुख भाषाएँ- मैक्कारी और कामिलरोई प्रमुख भाषाएँ हैं।

प्रारम्भ में इस परिवार की भाषाएँ 100 के लगभग मानी जाती थीं, परन्तु यूरोपीय उपनिवेश के कारण ये भाषाएँ नष्ट होती जा रही हैं। यहाँ के मूल निवासी इन भाषाओं को बोलते रहे हैं, परन्तु अब इनकी संख्या कम होती जा रही है। 1936 में इनके बोलने वाले 76 हजार थे।

मुख्य विशेषताएँ-

1. ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. प्रत्यय अन्त में जोड़े जाते हैं।
3. क्रियारूपों में पर्याप्त जटिलता है। वर्तमान, भूत, भविष्य के अनेक भेद हैं।
4. संख्यावाचक शब्द केवल 1, 2, 3 हैं। इन्हीं को जोड़कर बड़ी संख्याएँ बनाई जाती हैं।

17. दक्षिणपूर्व एशियाई (आस्ट्रो-एशियाटिक) परिवार

क्षेत्र- पश्चिम में भारत का उत्तरी पहाड़ी भाग तथा मध्यप्रदेश और उड़ीसा का कुछ भाग। पूर्व में अन्नाम, श्याम, कम्बोडिया। दक्षिण में निकोबार द्वीप।

प्रमुख भाषाएँ- 1. पश्चिम में- मुण्डा (कोल)

2. मध्य में- मोन-ख्मेर
3. पूर्व में- अनामी, मुआङ्
4. दक्षिण में- निकोबार

संक्षिप्त परिचय-

1. मुंडा- मुंडा नाम मूलर ने दिया था। इसको 'कोल' भी कहते हैं।

2. मुंडा के उत्तरी और दक्षिणी दो वर्ग हैं-

उत्तरी- इसमें कनावरी, शबर आदि भाषाएँ हैं। यह हिमालय की तराई में शिमला से बिहार तक बोली जाती है।

दक्षिणी- इसमें सन्थाली, मुंडारी, भूमिज आदि भाषाएँ हैं। सन्थाली पूर्वी बिहार और पश्चिमी बंगाल में फैली है। मुंडारी छोटा नागपुर, उड़ीसा, मध्य प्रदेश और मद्रास में फैली है। सन्थाली-मुंडारी आदि का सामान्य नाम 'शेरबारी' है। मुंडा भाषाओं ने पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार की भाषाओं को प्रभावित किया है। जैसे- भोजपुरी आदि में क्रियारूपकोंकी बहुलता और जटिलता। उत्तम पुरुष (हम) के दो रूप- श्रोता-सहित, श्रोता-रहित। जैसे- 'हम हाट जाएँगे' (हमलोग, तुम नहीं), 'अपन हाट जाएँगे' (हम भी, तुम भी)। 'हम' अर्थ में दो शब्द हैं- हम, अपना। 3. कोड़ी (20 संख्या) में वस्तुओंको गिनना। मंगही और मैथिली भाषा को भी प्रभावित किया है।

मुख्य विशेषताएँ-

1. मुण्डा भाषा अश्लिष्ट योगात्मक है। संबन्धतत्त्व मध्य या अन्त में लगता है। उपसर्ग भी लगते हैं। द्वित्व का भी प्रयोग होता है। प-बहुवचन-सूचक है, बीच में जुड़ता है। मंझि (मुखिया) झ म पं झि (कई मुखिया)।

सैन (जाना) झ अ-सैन (ले जाना, प्रेरणार्थक)।

2. मुंडा भाषा की ध्वनियाँ समृद्ध हैं। इसमें सभी स्वर, सभी स्पर्श वर्ण (पाँचों वर्ग), अन्तःस्थ, न, ड, स, ह हैं। अर्ध व्यंजनक-च-त-प भी मिलते हैं। महाप्राण ध्वनियाँ अधिक हैं।
3. शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजन नहीं आता। बलाघात स्वर का प्रयोग होता है, जो प्रायः दीर्घ स्वर पर रहता है।
4. संज्ञा, क्रिया आदि शब्द-विभाग नहीं है। एक ही शब्द प्रकरण और आवश्यकता के अनुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि होता है।
5. लिंब-बोध मूल शब्द में पुरुष और स्त्रीवाचक शब्द जोड़कर कराया जाता है। आँडिया (नर), एंगा (मादा), कूल (बाघ)। आँडिया कूल (बाघा), एंगा कूल (बाघिन)।
6. तीन वचन हैं। कीन (द्विवचन), को (बहु.)। हाड (आदमी), हाडकीन (2 आदमी), हाड-को (कई आदमी)।
7. विभक्तियों का काम परसर्गों से लिया जाता है।
8. क्रिया के अन्त में अ जोड़ते हैं। दल (मारना) झ दलकेत (मारा)। पुरुषों का विचार नहीं किया जाता।
9. गणना विंशतिक (20) प्रणाली से होती है। कोडी (20 वाचक) शब्द मुंडारी भाषा का है।

18. अमरीकी परिवार

क्षेत्र- इसका क्षेत्र संपूर्ण उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका है।

प्रमुख भाषाएँ-

1. कनाडा एवं संयुक्त राज्य (क) अथपस्कन (कनाडा में)
(ख) अल्गोनकिन (कनाडा, सं. राज्य)
2. मेक्सिको एवं मध्य अमेरिका (क) अज़तेक (मेक्सिको में)
(ख) मय (मध्य अमेरिका में)
3. दक्षिण अमेरिका (क) अरवक (उत्तरी भाग में)
(ख) करीब (उत्तरी भाग में)
(ग) तुपी गुअर्नी (मध्य भाग में)
(घ) कुईचुआ (पेरू, चिली में)

संक्षिप्त परिचय

अमरीकी परिवार में लगभग 1 हजार भाषाएँ मानी जाती हैं। इसका पूर्ण अध्ययन नहीं हुआ है। अमरिका के मूल निवासी इनभाषाओं को बोलते हैं। इनकी संख्या अब डेढ़ करोड़ रह गई है। दक्षिणी अमेरिका में पुरुष करीब भाषा बोलते हैं और स्त्रियाँ अरवक भाषा। एक ही परिवार में दो भाषाएँ चलती हैं। कारण यह बताया जाता है कि करीब जाति ने अरवक जाति पर विजयप्राप्त की। उन्होंने अरवक-भाषी पुरुषों को मार दिया और उनकी स्त्रियों को अपने यहाँ रख लिया। अतः स्त्रियाँ अरवक बोलती हैं, पुरुष करीब भाषा। अज़तेक की नहुअत्ल भाषा में और मय भाषाओं में ही लिपियाँ हैं। ईसाइयों ने कुईचुआ और गुअर्नी कोईसाई धर्म प्रचार का माध्यम बनाया था।

मुख्य विशेषताएँ

भाषाएँ प्रक्षिष्ट योगात्मक हैं। पूरे वाक्य के लिए एक शब्द होता है। जिसमें अनेक शब्दों के अंश समाविष्ट होते हैं। जैसे-नाघोलिनिन् नाव (हमारे लिए लाओ)- नातेन् (लाओ), अमोखोल (नाव), निन् (हमको)।

1.6. अपनी प्रगति जांचिए

1. भाषा-विज्ञान कला है या विज्ञान ?
2. भाषा-विज्ञान का कोई अन्य नाम बताइए।
3. परिवारमूलक वर्गीकरण कितने प्रकार का होता है ?
4. क्षिष्ट-योगात्मक भाषा के कितने भेद हैं ?
5. योगात्मक भाषाओं को कितने वर्गों में विभक्त किया गया है ?

1.7. सारांश

प्रस्तुत इकाई के माध्यम से विद्यार्थियों एवं पाठकों की अनेक शंकाओं का निवारण हो सकेगा। जैसे- भाषाविज्ञान- कला है या विज्ञान? भाषा की क्या विशेषताएँ हैं? भाषाविज्ञान के विभिन्न पक्ष कौन-कौन से हैं? विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण कैसे किया जाता है? परिवारमूलक वर्गीकरण कितने प्रकार का होता है? आकृतिमूलक वर्गीकरण की मूल अवधारणा क्या है? इन सभी प्रश्नों का समाधान इस इकाई में प्रस्तुत किया गया है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भाषाविज्ञान एक विज्ञान है। विज्ञान स्वतः निरपेक्ष होता है। तात्त्विक विवेचन और तत्त्वसंदर्शन ही उसका लक्ष्य होता है। तत्त्वसंदर्शन से बौद्धिक शांति और आनंदानुभूति होती है। अतएव वैज्ञानिक चिंतन निरपेक्ष होते हुए भी सापेक्ष होता है। इस दृष्टि से भाषाविज्ञान की उपयोगिताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

1.8. मुख्य शब्दावली

विज्ञान	- विशिष्ट ज्ञान
प्रायोगिक	- प्रयोग संबंधी
आकृतिमूलक	- आकृति अर्थात् रचनातत्त्व के आधार पर
ऐतिहासिक	- इतिहास से संबंध रखने वाला
स्थान-सामीप्य	- स्थान या क्षेत्र की समीपता
पूर्वयोगात्मक	- जहां प्रत्यय प्रकृति से पहले लगता है
तिल- तण्डुल- न्याय	- तिल और चावल की तरह मिलना
नीर- क्षीर- न्याय	- दूध और पानी की तरह मिलना
दधि-घृत -न्याय	- दही में घी की तरह मिले हुए
अयोगात्मकभाषा	- जिनमें प्रकृति और प्रत्यय का संयोग नहीं होता

1.9. अपनी प्रगति जांचिए के उत्तर

1. विज्ञान
2. लिंग्विस्टिक्स (Linguistics)
3. अट्टारह
4. दो
5. तीन

1.10. अभ्यास हेतु प्रश्न

1. भाषा की परिभाषा देते हुए उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. भाषा-विज्ञान का सामान्य परिचय प्रस्तुत कीजिए।
3. विश्व की भाषाओं के वर्गीकरण पर एक निबंध लिखिए।
4. विश्व की भाषाओं का परिवारमूलक वर्गीकरण कीजिए।
5. आकृतिमूलक वर्गीकरण की समीक्षा कीजिए।

1.11. आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. भाषा-विज्ञान एवं भाषा शास्त्र- डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
2. भाषा विज्ञान- डॉ. करण सिंह, साहित्य भंडार, सुभाष बाजार, मेरठ।
3. भाषा विज्ञान- डॉ. शिवबालक द्विवेदी, चौखंभा ओरियंटलिया, दिल्ली।
4. भाषिकी और संस्कृत भाषा, डॉ. देवदत्त शर्मा, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़।
5. तुलनात्मक भाषा शास्त्र अथवा भाषा विज्ञान- मंगल देव शास्त्री, बनारस।

इकाई-2

भारोपीय परिवार तथा इण्डो ईरानियनशाखा का परिचय एवं संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश का उद्भव विकास तथा तुलनात्मक अध्ययन

2.1. परिचय

पिछली इकाई में आपने भाषा तथा भाषा-विज्ञान का परिचय प्राप्त किया एवं विश्व की भाषाओं के आकृतिमूलक एवं परिवारमूलक आधार पर वर्गीकरण से अवगत हो पाए। इस इकाई में हम भारोपीय परिवार का परिचय, इण्डो-ईरानियन शाखा का परिचय तथा संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश का उद्भव, विकास एवं तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

भारोपीय भाषा परिवार क्षेत्र, विस्तार एवं साहित्य-संपन्नता तथा जनसंख्या की दृष्टि से अन्य सभी भाषा परिवारों से श्रेष्ठ है। इस भाषा परिवार में संसार का अत्यंत प्राचीन साहित्य है। इस परिवार की भाषाएँ एक बहुत बड़े क्षेत्र में व्यवहृत होती हैं, जिनमें अर्मीनिया, ईरान, भारत, यूरोपीय देश, अमेरिकी देश, दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका तथा ऑस्ट्रेलिया आदि सम्मिलित हैं। इस परिवार के बोलने वालों की संख्या 1 अरब 50 करोड़ के लगभग है। भारोपीय शब्द भारत+यूरोपीय का संक्षिप्त रूप है। भारतीय में भारतवर्ष से लेकर यूरोप तक फैली हुई भाषाओं का संग्रह है। इस परिवार की 10 शाखाएँ हैं। इण्डो-ईरानियन शाखा भारोपीय परिवार की सबसे महत्वपूर्ण शाखा है, तथा संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाएँ इण्डो-ईरानियन अर्थात् भारत-ईरानी शाखा की प्रमुख भाषाएँ हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत इकाई का मूल विषय भारोपीय परिवार की विभिन्न शाखाओं का विश्लेषण करना है।

2.2. इकाई के उद्देश्य

भारोपीय भाषा परिवार के स्वरूप को समझ पाएंगे;

भारत की ईरानी शाखा की समीक्षा कर सकेंगे;

वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत की तुलना का विश्लेषण कर पाएंगे;
पालि भाषा के उद्भव तथा विकास की विभिन्न पक्षों से परिचित हो सकेंगे;
प्राकृत भाषा से अवगत हो पाएंगे;
अपभ्रंश भाषा के उद्भव एवं विकास की समीक्षा कर सकेंगे।

2.3. भारोपीय भाषा परिवार

भारोपीय भाषा परिवार यूरोशिया खण्ड का सबसे प्रमुख परिवार है। इस परिवार में मुख्यतः भारत और यूरोप की भाषाएँ सम्मिलित हैं। अतः इसका अंग्रेजी में Indo-European नाम दिया गया, जिसका ही हिन्दी अनुवाद भारोपीय है। भारोपीय-भाषा नाम की कोई भाषा हमें उपलब्ध नहीं है। न ही इस भाषा के वास्तविक स्वरूप का ही ज्ञान है। न ही यह ज्ञान है कि भारोपीय भाषा जैसी कोई भाषा यदि रही है तो वह किस क्षेत्र में बोली जाती थी। लगभग सभी विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि कोई प्राचीन भाषा थी जिससे संस्कृत, ग्रीक, लैटिन और उनसे विकसित हुई भारतीय और यूरोपीय भाषाएँ सम्बन्धित हैं। इन सभी भाषाओं के समन्वित स्वरूप की कल्पना करके भारोपीय भाषा की कल्पना की गई है।

भारोपीय परिवार की मुख्य विशेषताएँ

1. अपने मूल रूप की दृष्टि से यह परिवार श्लिष्ट-योगात्मक कहा जा सकता है।
2. इसमें योग (प्रत्यय का प्रकृति से या सम्बन्धत्व का अर्थतत्त्व से) प्रायः सेमेटिक या हैमिटिक परिवार-सा अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी होता है।
3. जो प्रत्यय जोड़े जाते हैं, उनके स्वतंत्र अर्थ का पता नहीं है। एक-दो के विषय में विद्वानों ने कुछ अनुमान लगाया है, पर शेष संदिग्ध हैं, परन्तु अनुमान ऐसा है कि अन्य भाषाओं के प्रत्ययों की भाँति भारोपीय प्रत्यय भी सभी स्वतंत्र शब्द थे, उनका अर्थ था, कालान्तर में धीरे-धीरे ध्वनि-परिवर्तन के चक्र में जोड़ने से उनका आधुनिक रूप मात्र शेष रह गया।
4. इस परिवार की भाषाएँ आरम्भ में योगात्मक थीं, पर धीरे-धीरे दो-एक को छोड़ कर सभी वियोगात्मक हो गईं, जिसके फलस्वरूप, परसर्ग तथा सहायक क्रिया आदि की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही कुछ भाषाएँ स्थान-प्रधान हो गईं हैं। जैसे 'राम मोहन को कहता है' में 'राम' के स्थान पर और 'मोहन' को 'राम' के स्थान पर कर देने से अर्थ परिवर्तित हो जायेगा पर संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में यह बात नहीं थी।
5. धातुएँ अधिकतर एकाक्षर होती हैं। इनमें प्रत्यय जोड़कर पद या शब्द बनते हैं।
6. एक स्थान से चल कर अलग होने पर इस परिवार की भाषाओं का अलग-अलग विकास हुआ और

सभी में प्रत्ययों की आवश्यकता पड़ी, अतः यहाँ प्रत्ययों की संख्या बहुत अधिक हो गई है। अन्य किसी भी परिवार में इनकी संख्या इससे अधिक नहीं है।

7. इस परिवार में पूर्वसर्ग या पूर्व विभक्तियाँ सम्बन्ध-सूचना देने के लिए पद बनाने के लिए बान्ठू आदि कुलों की भाँति नहीं प्रयुक्त होतीं। उनका प्रयोग होता है, और पर्याप्त मात्रा में होता है, पर उनसे शब्दों या धातुओं के अर्थ को परिवर्तित करने का काम लिया जाता है। जैसे विहार, आहार, परिहार आदि में 'वि', 'आ', 'और' 'परि' आदि लगाकर किया गया है।
8. समास-रचना की विशेष शक्ति इस परिवार में है। इसकी रचना के समय विभक्तियों का लोप हो जाता है और समास द्वारा बने शब्द का अर्थ ठीक वही नहीं रहता, जो उसके अलग-अलग शब्दों को एक स्थान पर रखने से होता है। उसमें एक नया अर्थ आ जाता है। जैसे काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा अर्थात् काशी की वह सभा जो नागरी का प्रचार करती है। वेल्श भाषा में समासों से बहुत बड़े-बड़े शब्द बनते हैं। किसी टापू में बसे एक वेल्श ग्राम का नाम समास पर आधारित है, 57 वर्गों का है।
9. इस परिवार की एक प्रधान विशेषता यह भी है कि स्वर-परिवर्तन से सम्बन्धतत्व सम्बन्धी परिवर्तन हो जाता है। आरम्भ में स्वराघात के कारण ऐसा हुआ होगा। स्वराघात के कारण स्वर-परिवर्तन हो गया और जब धीरे-धीरे प्रत्ययों का लोप हो गया, तो वे स्वर-परिवर्तन ही सम्बन्ध-परिवर्तन को भी स्पष्ट करने लगे।

‘भारोपीय-परिवार’ का विभाजन

भारोपीय शब्द भारत+यूरोपीय का संक्षिप्त रूप है। यह Indo-European का अनुवाद है। भारोपीय में भारतवर्ष से लेकर यूरोप तक फैली हुई भाषाओं का संग्रह है। इस परिवार की दस शाखाएँ हैं। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने भारोपीय-परिवार का विभाजन इस प्रकार किया है-

1. भारत-ईरानी (आर्य) - (क) भारतीय, (ख) ईरानी
2. बाल्टो-स्लाविक—(क) बाल्टिक, (ख) स्लाविक(स्लैवोनिक)
3. आर्मीनी (आर्मेनियन)
4. अल्बानी (इलीरी, इलीरियन)
5. ग्रीक (हेलेनिक)
6. केल्टिक
7. जर्मनिक (ट्यूटानिक)

8. इटालिक (लैटिन)

9. हिटाइट (हिती)

10. तोखारी

‘केंतुम्’ (केन्टुम्) और ‘शतम्’ (सतम्) वर्ग

भारोपीय परिवार की भाषाओं को ध्वनि के आधार पर ‘शतम्’ (सतम्) और ‘केंतुम्’ (केन्टुम्) दो वर्गों में रखा गया है। कुछ लोगों का विचार है कि मूल भारोपीय की आरम्भ में ये दो बोलियाँ या विभाषाएँ थीं, किन्तु यह मान्यता संदिग्ध है। पहले पहल अस्कोली ने 1870 ई. में विद्वानों के समक्ष यह विचार रखा कि भारोपीय मूल भाषा की कंठस्थानीय ध्वनियाँ (ऊपर दी गई ध्वनियों में प्रथम, तालव्य कवर्ग) कुछ शाखाओं में ज्यों का त्यों रह गई, पर कुछ में वे संघर्षों (स्, श, ज, आदि) या स्पर्श-संघर्षों (च, ज आदि) हो गईं। इसी आधार पर वान ब्रैडके ने इस परिवार के ‘सतम्’ और ‘केन्तुम्’ दो वर्ग बनाये। इन दोनों शब्दों का अर्थ 100 है। यह नाम इसलिए रखे गये कि ‘सौ’ के लिए पाये जाने वाले शब्दों में यह भेद स्पष्ट है। ‘सतम्’ अवेस्ता का शब्द है और ‘केंतुम्’ लैटिन का।

स्पष्टता के लिए दोनों वर्ग की भाषाओं में ‘सौ’ के लिए पाये जाने वाले शब्दों को यहाँ देख लेना ठीक होगा-

सतम् वर्ग	केन्तुम् वर्ग
अवेस्ता- सतम्	लैटिन - केन्तुम्
फ़ारसी-सद	ग्रीक-हेक्टोन
संस्कृत-शतम्	इटैलियन - केन्तो
हिन्दी-सौ	फ्रेंच-केन्त
रूसी-स्तो	ब्रीटन - कैन्ट
बल्गेरियन-सुतो	गेलिक-क्युड
लिथुआनियन-स्जिम्तास	तोखारी-कन्ध

इन उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक वर्ग (सतम्) में ‘स’ ध्वनि सर्वत्र है, और दूसरे वर्ग (केंतुम्) में वह सर्वत्र ‘क’ ध्वनि हो गई है। केंतुम् और सतम् में एक और भी अन्तर है। मूल भारोपीय का तीसरा कवर्ग, (क्व, ख्व आदि) केंतुम् में तो प्रायः सुरक्षित है, किन्तु सतम् में वह लुप्त हो गया। आरम्भ में लोगों का यह विचार था कि पश्चिम में पाई जाने वाली भाषाओं को ‘केन्तुम्’ वर्ग को तथा पूरब में

पाई जाने वाली भाषाओं को 'सतम्' वर्ग की कहा जा सकता है। किन्तु बाद में पूरब में हिट्टाइट और तोखारी दो भाषाएँ ऐसी मिलीं, जिनमें 'स'के स्थान पर 'क' ध्वनि है, अतः पूरब और पश्चिमी के आधार पर वर्ग अलग-अलग करना ठीक नहीं है।

केन्दुम् और शतम् वर्ग (भारोपीय परिवार-विभाजन)

भारोपीय-परिवार को केन्दुम् और शतम् वर्ग के आधार पर इस प्रकार बाँटा जाता है-

शतम् वर्ग	केन्दुम् वर्ग
1. भारत-ईरानी (आर्य)	5. ग्रीक(हेलेनिक)
2. बाल्टो-स्लाविक(स्लैवोनिक)	6. केल्टिक
3. आर्मीनी(आर्मेनियन)	7. जर्मनिक (ट्यूटानिक)
4. अल्बानी (इलीरी, इलीरियन)	8. इटालिक(लैटिन)
	9. हिट्टाइट(हिती)
	10. तोखारी

अब दोनों वर्गों (शतम् वर्ग औरकेन्दुम् वर्ग) की भाषाओं पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है:-

1. भारत-ईरानी (आर्य)

इस शाखा के अन्य नाम 'हिन्दी-ईरानी' या 'आर्य-शाखा' भी हैं। भारोपीय परिवार की आर्य शाखा बहुत ही महत्वपूर्ण है इस परिवार का प्राचीनतम प्रामाणिक साहित्य अपने शुद्ध अर्थों में इसी शाखा में मिलता है। इतना ही नहीं ऋग्वेद के बराबर पुराना शुद्ध साहित्य संसार की किसी भी भाषा में कदाचित् नहीं मिलता। ऋग्वेद की कुछ ऋचाएँ दो हजार ई. पू. तक लिखी जा चुकी थीं, ऐसी कुछ विद्वानों की धारणा है और 1500 ई. पू. तक तो इसका बहुत अंश लिखा जा चुका था, ऐसा अधिकांश लोग मानते हैं। पारसियों का धर्मग्रंथ 'जेन्द अवेस्ता' भी लगभग 7वीं सदी ई. पू. का है। इसके अतिरिक्त इस शाखा की भाषाओं का गठन तथा उनका साहित्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए इस शाखा ने सामग्री दी है और पश्चिम में भाषा-विज्ञान का अध्ययन तभी से यथार्थतः प्रारम्भ होता है, जब से उन लोगों को इस आर्य शाखा के मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस बात को भाषा-विज्ञान के इतिहास पर विचार करते समय कुछ अधिक विस्तार से किया जा सकेगा।

इस शाखा के 'विरोस' अन्यो के साथ छोड़ने के बाद जब आगे बढ़े तो कुछ ईरान में रूक गये और कुछ लोग और बढ़कर भारतवर्ष में आ बसे। इस प्रकार इसी की भारतीय और ईरानी दो प्रमुख भाषाएँ

हुई। बहुत लोगों ने इन दोनों को भारोपीय की अलग-अलग शाखा माना है, पर ऐसा मानना वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि ये दोनों बहुत सी बातें में साम्य रखती हैं, जिससे स्पष्ट है कि ये दोनों पहले से ही अलग न होकर एक शाखा के रूप में थीं और बाद में अलग हुईं। ब्रान्देशताइन की खोजों ने भी यही सिद्ध किया है, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यहाँ भारतीय तथा ईरानी दोनों ही लक्षणों का सिहावलोकन कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

भारतीय और ईरानी में समानता

1. भारोपीय मूल भाषा के तीन ह्रस्व मूल स्वर (अ, ए, ओ) दीर्घ मूल स्वर ('आ' 'ए' और 'ओ') के स्थान पर भारतीय तथा ईरानी दोनों ही में एक ह्रस्व मूल स्वर 'अ' और एक दीर्घ मूल स्वर 'आ', ये दो ही मिलते हैं।
2. दोनों में भारोपीय के अति ह्रस्व या उदासीन स्वर अ के स्थान पर 'इ' स्वर मिलता है।
3. मूल भारोपीय के प्रथम श्रेणी में कंठ्य या पुरःकंठ्य क् (क्य) ख (ख्य) ग (ग्य) घ् (ध्य) भारत-ईरानी शाखा में क्रम से श्, श्ह, ज् और ज्ह हो गये। कालान्तर में भारत में ये श् ज् और ह् हो गये और ईरान में स, ज्, ज्ह।
4. मूल भारोपीय के तृतीय श्रेणी के कंठ्य या कंठोष्ठ्य क् (क्व) ख् (ख्व) ग् (ग्व) घ् (ध्व) इस शाखा में शुद्ध कंठ्य क् ख् ग् घ् हो गये। और यदि इनके बाद इ, ए, ओ और थे तो क्रम से च्, छ्, ज्, झ् हो गये।
5. ईरानी तथा भारतीय दोनों में स्वरांत संज्ञाओं के बहुवचन बनाने के लिए अन्त में '-नाम्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।
6. दोनों में आज्ञा के लिए अन्य पुरुष में '-तु' और '-न्तु' प्रत्यय पाये गए हैं।

भारतीय और ईरानी में अन्तर

ऊपर की समानताओं के रहते हुए भी दोनों में अन्तर भी हैं। यदि ऐसा न हो तो दोनों अलग-अलग ही क्यों होतीं? यहाँ कुछ प्रमुख अन्तरों की ओर संकेत किया जा सकता है।

1. च वर्ग के केवल दो व्यंजन च् और ज् ईरानी में हैं, जबकि भारतीय शाखा में पाँच (च् छ् ज् झ् ज्) हैं।
2. ईरानी में ट वर्ग का एकान्त अभाव है, जबकि भारतीय में ये हैं।
3. पाँचों वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ महाप्राण वर्ग ईरानी में नहीं है।
4. पुरानी ईरानी में 'ल्' का भी अभाव है। इस के स्थान पर 'र' है श्रीलः - स्त्रीरो (श्री-संपन्न)।

5. ईरानी में स्वरों का बाहुल्य है। वहाँ 8 स्वर ऐसे हैं, जिनके भारतीय में 'अ' या 'आ' का ही प्रयोग होता है।
6. आदि स्वरागम और अपिनिहिति भी ईरानी में भारतीय की अपेक्षा अधिक है। भरति = बरइति तथा भवति = बवइति आदि।
7. ईरानी शब्दों के आरम्भ में, कभी-कभी अन्यत्र भी, भारतीय शाखा में जो स है वह ह हो जाता है। जैसे सप्त = हप्त, सप्ताह = हप्तता तथा सिंधु = हिन्दु।
8. संस्कृत के घोष महाप्राण घ्, ध्, भ्, ईरानी में अल्पप्राण रूप में हैं। जैसे भूमि = बूमि, दीर्घम् = दरेगम् तथा भ्राता = ब्राता आदि।

10. बाल्टो-स्लाविक(स्लैवोनिक)

इस उपपरिवार की दो शाखाएँ हैं-

(क) बाल्टिक

इसे लैट्टिक भी कहते हैं। इसमें तीन भाषाएँ आती हैं। प्रथम प्राचीन प्रशियन है, जो सत्रहवीं शताब्दी ई. में ही समाप्त हो गई थी। इसका क्षेत्र बाल्टिक तट पर विश्वुला और तीन नदियों के बीच में प्रस्थित प्रशा प्रदेश था। 15वीं सदी के आरम्भ की तथा 16वीं सदी की लिखी कुछ पुस्तकें इसमें मिली हैं। दूसरी भाषा लिथुआनियन है। इसका क्षेत्र उत्तर-पूरब में है। इसका साहित्य भी 16वीं के बाद से आरम्भ होता है और पुरानी प्रसिद्ध पुस्तक महाकवि दोनेलेटिस की 'सीज़न्स' है, जो 1750 के लगभग लिखी गई थी। वैज्ञानिकों की दृष्टि से यह भाषा बड़ी ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसका विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ है, और इसी कारण आज भी यह मूल भारोपीय भाषा से निकटतम है। इसमें एस्ति (संस्कृत अस्ति) एवं जीवाः जैसे रूप अब भी हैं। संस्कृत की भाँति संगीतात्मकता और द्विवचन भी अभी इसमें हैं। इसका क्षेत्र अब रूस के अन्तर्गत हैं। इसकी तीसरी भाषा लेट्टिश है। यह रूस के पश्चिमी भाग में लेटिवियाव राज्य की भाषा है। यह लिथुआनियन से अधिक विकसित है। इसमें भी साहित्य का आरम्भ 16वीं सदी से हुआ है।

(ख) स्लाविक(स्लैवोनिक)

यह बहुत विस्तृत वर्ग है। इसमें पूर्वी यूरोप का एक काफ़ी बड़ा भाग आ जाता है। दूसरी-तीसरी सदी के लगभग तक इसके बोलने वाले एक सीमित क्षेत्रमें थे, पर पाँचवीं सदी के बाद से ये लोग इधर-उधर फैलने लगे, और नवीं सदी तक रूस, बलगेरिया तथा स्लावोनिया आदि इसके कब्जे में आ गए। आज भी यह क्षेत्र इन्हीं का है। इनमें नवीं सदी तक के लेख मिलते हैं।

पूर्वी शाखा का 12वीं सदी तक लगभग एक ही रूप मिलता है। इसमें साहित्य 19वीं सदी से भी

पूर्व का है। महारूसी ही रूस की प्रधान भाषा है। 17वीं सदी तक यह बहुत अस्त-व्यस्त थी। उसके बाद इसे टकसाली रूप मिला। यह मूलतः रूस की एक बोली मात्रा है। श्वेत रूसी रूस के दक्षिणी भाग में बोली जाती है। लघु रूसी का दूसरा नाम रूथेनियन भी है। इसके बोलने वाले कुछ आस्ट्रिया के गलीसिया प्रांत हैं। आधुनिक साहित्य प्रमुखतः महारूसी में ही है। रूसी क्रान्ति के पश्चात् से इसका स्वरूप बहुत ही पूर्ण हो गया है। पश्चिमी शाखा की प्रधान भाषा जेक है। इसका दूसरा नाम बोहेमियन भी है। इसके लेख 9वीं सदी तक के हैं। नियमित साहित्य 12वीं सदी से मिलता है। 15वीं सदी के हुस्साइट युद्ध के समय साहित्य की उन्नति खूब हुई है। इधर डेढ़ सौ वर्षों से इसका साहित्य बढ़ रहा है। इसकी एक बोली उत्तरी हंगरी, तथा प्रेसवर्ग एवं कारपेथियन्स के मध्य जाती है।

जेक की बहिन सर्बियन का नाम 'सरोबियन' एवं 'वेंडिक' भी है जो धीरे लुप्त हो रही है। प्रशा और सैक्सोनी में ही इसके कुछ बोलने वाले अब शेष हैं। प्राचीनतम रूप 16वीं सदी की एक प्रार्थना-पुस्तक में मिलता है।

पोलिश भाषा का मूल क्षेत्र अब पोलैंड है। जर्मनी में भी इसका प्रचार कभी था पर फिर यह निकाल दी गई। इसमें कुछ प्रार्थनाओं के अनुवाद 13वीं सदी के मिलते हैं। वही इसका प्राचीनतम साहित्य है। निम्न एब के पास के गुलामों की भाषा पोलाबिश पोलिश की ही बहन थी। पोलाबिश का लोप बहुत पहले हो गया। अब इसमें साहित्य आदि कुछ भी नहीं मिलता।

दक्षिणी शाखा की प्रसिद्ध भाषा बेल्गेरियन है। इसके पुराने रूप को प्राचीन बल्गेरियन या चर्च स्लैवोनिक कहा जाता है। इसमें बाइबिल का अनुवाद 9वीं सदी के मध्य का मिलता है। इसमें द्विवचन का प्रयोग भी है और भाषा अधिक वियोगात्मक नहीं है। वर्तमान बल्गेरियन पूर्णतः वियोगात्मक हो गई है। यह अपने प्राचीन रूप से बहुत दूर चली आई है। इसका प्रधान क्षेत्र बेल्गेरिया के अतिरिक्त यूरोपीय तुर्की तथा ग्रीस आदि भी है। सम्भवतः इसी कारण इसके शब्द-समूह में विदेशी तत्व अधिक आ गये हैं।

सर्वोक्रोटियन भाषा के बोलने वाले सर्बिया, दक्षिणी हंगरी तथा स्लैवोनिया आदि कई स्थानों पर हैं। इसके अन्तर्गत बहुत-सी बोलियाँ हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसका महत्त्व अत्यधिक है। इसके 12वीं सदी तक के कुछ लेख मिलते हैं, पर पुराना साहित्य नहीं है। स्लोवेनियन का क्षेत्र कार्निओला, दक्षिणी कारिन्थिया एवं स्टीरिया में है। इसके प्राचीन लेख 10वीं सदी तक के मिलते हैं।

डा. भोलानाथ तिवारी ने बाल्टिक और स्लाविक दो अलग अलग परिवार माने हैं परन्तु कुछ अन्य विद्वान् इन्हें एक ही परिवार के अन्तर्गत मानते हैं।

3. आर्मीनी(आर्मेनियन)

इसे कुछ लोग आर्य परिवार की ईरानी भाषा के अन्तर्गत रखना चाहते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि

इसका शब्द-समूह ईरानी शब्दों से भरा है। परये शब्द केवल उधार लिये हुए हैं। इसकी योगात्मकता तथा ध्वनि आदि स्पष्ट: ईरानी से भिन्न है, अतः इसे भारोपीय परिवार की एक स्वतंत्र शाखा मानना ही अधिक उपयुक्त है। इसके कीलाक्षर-लेख मिले हैं, जिससे इसके प्राचीन साहित्य का अनुमान होता है। यह साहित्य धार्मिक था, जिसे ईसाईयों ने चौथी सदी के लगभग नष्ट कर दिया। ईसाई साहित्य चौथी सदी से पहली सदी तक रचा गया। 9वीं सदी का एक इंजील का इसमें अनुवाद है। कुछ पंक्तियाँ यहाँ के मूल साहित्य की भी हैं। इसका नवीन रूप प्रत्येक दृष्टि से प्राचीन रूप से बहुत दूर चला आया है, पर पुराने रूप का प्रयोग धार्मिक कार्यों में अब भी संस्कृत और लैटिन आदि की भाँति होता है।

5वीं सदी में ईरान के युवराज आर्मेनिया के राजा थे, अतः ईरानी शब्द इस भाषा में अधिक आ गये। तुर्की और अरबीशब्द भी इसमें काफ़ी हैं। इस प्रकार आर्य और आर्येतर भाषाओं के प्रभाव इस पर पड़े हैं।

इसके व्यंजन आदि संस्कृत से मिलते हैं। जैसे फ़ारसी 'दह' और संस्कृत 'दशन्' के भाँति 10 के लिए इसमें 'तस्र' शब्द है। दूसरी ओर ह्रस्व स्वर एँ और आँ आदि भी हैं इसमें अतः इसे आर्य और ग्रीक के बीच में कहा जाता है।

यूरोप और एशिया की सरहद पर बोली जाने वाली प्राचीन भाषा फ्रीजियन भी इसी के अन्तर्गत मानी जाती है। वर्तमान आर्मेनियन के प्रधान दो रूप हैं। एक का प्रयोग एशिया में होता है और दूसरे का यूरोप में। इसका क्षेत्र कुस्तुनतुनिया तथा कृष्ण सागर के पास है। एशिया वाली बोली का नाम अराराट है और यूरोप में बोली जाने वाली का स्तंबुल। स्तंबुल में साहित्य रचना भी होती है, और यही इसकी प्रधान बोली है।

4. अल्बानी (इलीरी, इलीरियन)

अल्बेनियन के बोलने वाले अल्बेनिया तथा कुछ ग्रीस में हैं। इसके अन्तर्गत बहुत सी बोलियाँ हैं, जिनके घेघ और टोस्क दो वर्ग बनाये जा सकते हैं। घेघ का क्षेत्र उत्तर में और टोस्क का दक्षिण में है।

अल्बेनियन साहित्य लगभग 17वीं सदी से आरम्भ होता है। इसमें कुछ लेख 5वीं सदी में भी मिलते हैं। इधर इसने तुर्की, स्लावोनिक, लैटिन और ग्रीक आदि भाषाओं से बहुत शब्द लिए हैं। अब यह ठीक से पता चलाना असंभव-सा है कि इसके अपने पद कितने हैं। इसका कारण यह है कि ध्वनि-परिवर्तन के कारण बहुत घाल-मेल हो गया है।

बहुत दिनों तक विद्वान् इसे इस परिवार की स्वतंत्र शाखा मानने को तैयार नहीं थे, किन्तु जब यह किसी से भी पूर्णतः न मिल सकी तो इसे अलग मानना ही पड़ा।

5. ग्रीक (हेलेनिक)

इस शाखा में कुछ भौगोलिक कारणों से बहुत पहले से छोटे-छोटे राज्य और उनकी बहुत-सी बोलियाँ हो गई हैं। इसके प्राचीन उदाहरण महाकवि होमर के इलियड और ओडिसी महाकाव्यों में मिलते हैं। इनका समय एक हजार ई. पू. माना जाता है। ये दोनों महाकाव्य अधिक दिन तक मौखिक रूप में रहने के कारण अपने मूल रूप में आज नहीं मिलते, फिर भी उनसे ग्रीक के पुराने रूप का कुछ पता तो चल ही जाता है। ग्रीक भाषा बहुत-सी बातों में वैदिक संस्कृत से मिलती-जुलती है। दोनों ही में संगीतात्मक स्वराघात प्रधान था। कालान्तर में दोनों बलात्मक की ओर आने लगीं। दोनों ही में शब्दों के रूप बहुत अधिक हैं। हाँ, संस्कृत के परस्मैपद और आत्मनेपद की भाँति ग्रीक में ऐक्टिव और मिडिल वायस होते थे। द्विवचन दोनों में था। ग्रीक में संस्कृत की अपेक्षा स्वर अधिक हैं और संस्कृत में ग्रीक की अपेक्षा व्यंजन। ग्रीक ने भारोपीय मूल भाषा के स्वरों को बहुत सुरक्षित रखा है, पर व्यंजनों में परिवर्तन भी अधिक हो गया है।

जब ग्रीस उन्नति पर था होमरिक ग्रीक का विकसित रूप ही साहित्य में प्रयुक्त हुआ। उसकी बोलियाँ भी उसी समय अलग-अलग हो गईं।

एट्रिक बोली का लगभग चार सौ ई. पू. में बोलबाला था, अतः यही भाषा यहाँ की राज्य भाषा हुई। आगे चलकर इसका नाम 'कोइने' हुआ और यह शुद्ध एट्रिक से धीरे-धीरे कुछ दूर पड़ गई और एशिया माइनर तक इसका प्रचार हुआ। उधर मिस्र आदि में भी यह जा पहुँची और स्वभावतः सभी जगह की स्थानीय विशेषताएँ इसमें विकसित होने लगीं। बिजैण्टाइन के समय में कोइने भाषा का रूप और भी विकसित हो गया था। उसमें विदेशी शब्द अधिक आ गये। उस विकसित या बिगड़ी अवस्था से 450 के बाद वर्तमान ग्रीक का विकास हुआ। वर्तमान ग्रीक, ग्रीस, तुर्की, क्रीट, साइप्रस आदि में बोली जाती है। कोइने भाषा (एट्रिक) ही प्लेटो, अरस्तु तथा सिकन्दर आदि की भाषा थी। नव-विधान भी इसी में लिखा गया था।

डोरिक स्पार्टा के निवासियों की भाषा थी। बाद में इसका इटली आदि में भी विस्तार हुआ। पिंडर कवि के गीत और कुछ खंडकाव्य इसके मुख्य साहित्य हैं।

6. केल्टिक

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व इस शाखा के बोलने वाले मध्य यूरोप, उत्तरी इटली, फ्रांस (उस समय का नाम 'गाल' था) के एक बड़े भाग, स्पेन, एशिया माइनर और ग्रेट ब्रिटेन आदि में रहते थे, पर अब आयरलैण्ड, वेल्स, स्काटलैंड, मानद्वीप और ब्रिटेनी तथा कार्नवाल के ही कुछ भागों में इसका क्षेत्र शेष रह गया है। लैटिन शाखा से इस शाखा का बहुत साम्य है-

(अ) दोनों में ही पुलिंग और नपुंसक लिंग ओकारान्त संज्ञाओं में सम्बन्ध-कारक के लिए-ई प्रत्यय का प्रयोग होता है।

(आ) दोनों ही में क्रियार्थक संज्ञा अधिकतर 'शन' प्रत्यय लगाकर बनाई जाती है।

(इ) कर्मवाच्य की बनावट भी दोनों में लगभग एक-सी है।

(ई) दोनों ही में उच्चारण-भेद के कारण 'क' और 'प' दो वर्ग बनाये जा सकते हैं। कुछ भाषाओं में जहाँ 'प' मिलता है वहाँ दूसरी भाषाओं में उसके स्थान पर 'क' मिलता है, जैसे वेल्श में 'पम्प' (=पाँच) का आइरिश में 'कोइक' है। 'प' वर्ग को ब्रिटानिक और 'क' वर्ग को गायलिक कहते हैं। इसके अतिरिक्त एक गालिक शब्द भी है।

गालिक, रोम के राजा प्रथम सीज़र के समय में बोली जाती थी। 270 ई. पू. में यह एशिया माइनर में पहुंच गई थी। अब इस भाषा का दर्शन कुछ स्थान तथा आदमियों के नामों, पुराने लेखकों द्वारा उद्धृत शब्दों, सिक्कों और लगभग 25 अभिलेखों में ही मिलता है, अतः इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

सिमरिक् या वेल्श 'प' वर्ग की एक शाखा है। इसके बोलने वाले आज भी हैं। इसका प्रधान क्षेत्र वेल्श है। इसके आठवीं सदी तक के लेख मिलते हैं। साहित्य का आरम्भ 11वीं सदी से हुआ है और 13वीं तक कविता आदि की पर्याप्त संख्या में रचना हुई है। कुछ रचना आज भी होती है। इसके बोलने वालों को अपनी भाषा का बड़ा गर्व है। कार्निश कार्नवाल की एक बोली थी। 1770 ई. के लगभग इसकी इतिश्री हो गई। इसका प्राचीन साहित्य हमें अवश्य प्राप्त है, जिसकी प्रधान पुस्तक 15वीं सदी की एक 'रहस्य'नाटिका' है।

ब्रिटेन, फ्रांस के ब्रिटेनी प्रदेश में बोली जाती है। इसे आर्मेरिकन भी कहते हैं। यथार्थतः यह कार्निश की ही एक शाखा है, जो पाँचवीं सदी के लगभग अलग हुई थी। इसके पुराने उदाहरण दसवीं सदी तक के मिलते हैं। 12वीं सदी से साहित्य भी मिलता है।

'क' वर्ग की प्रधान शाखा आयरिश है। यह केल्टिक शाखा की प्रधान भाषा आयरलैण्ड में जब तक अंग्रेज़ी राज्य था भारत की ही भाँति अंग्रेज़ी का बोलबाला था, पर देश के स्वतंत्र होने के उपरांत आयरिश भाषा को भी उचित स्थान मिला है। उसके पुराने उदाहरण पाँचवीं सदी के 'ओघम' के अभिलेखों में मिलते हैं। मध्यकाल में साहित्य (प्रधानतः काव्य और पौराणिक गाथा) की भी वृद्धि यथेष्ट हुई है। धार्मिक केन्द्र होने के कारण भी इस भाषा को कम बल नहीं मिला है। इस भाषा तथा इसके साहित्य की उन्नति डी वेलरा के प्रयास के फलस्वरूप बड़ी ही तेज़ी से हुई है।

स्कॉच स्काटलैण्ड के उत्तरी-पश्चिमी भाग की बोली थी। अब इसके बोलने वाले अंग्रेज़ी के प्रभाव

कम हो गये हैं। कुछ स्कूलों में धार्मिक प्रार्थना के समय इस भाषा का प्रयोग वहाँ अब भी होता है। इसमें कुछ पुरानी कविताएँ भी हैं। मैक्स इंग्लैण्ड के समीप मानद्वीप की भाषा है। यह बेचारी भी अब समाप्तप्राय है।

7. जर्मनिक (द्यूटानिक)

यह शाखा भारोपीय परिवार की सबसे महत्वपूर्ण शाखा है। इस शाखा की अंग्रेजी भाषा आज की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। इस शाखा का नाम जर्मनिक भी है।

यह शाखा अपनी ध्वनियों के परिवर्तन के लिए बहुत प्रसिद्ध है। पहला परिवर्तन प्रागैतिहासिक काल में हुआ, जिसके कारण भारोपीय परिवार की अन्य शाखाओं से यह कुछ दूर हो गई। दूसरा परिवर्तन 7वीं सदी के लगभग हुआ, जिसके कारण इस शाखा के ही उच्च जर्मन और निम्न जर्मन दो वर्ग हो गये। इन ध्वनि-परिवर्तनों का विस्तृत विवरण 'ध्वनि-नियम' के प्रकरण में दिया गया है।

इसके प्राचीनतम उदाहरण तीसरी सदी के मिलते हैं, जो इसकी पुरानी, रोमन और ग्रीक लिपि से भिन्न, रूनी लिपि में है। चौथी सदी के इंजील का एक अनुवाद भी मिलता है। साहित्य इधर हज़ार वर्षों के लगभग से आरम्भ हुआ है। इस वर्ग की भाषाएँ धीरे-धीरे संयोगात्मक से वियोगात्मक होती जा रही हैं। भारोपीय मूल भाषा में संगीतात्मक स्वराघात का प्राधान्य था। इस वर्ग में अब केवल स्वेडिश में ही संगीतात्मक स्वराघात शेष है।

प्राचीन सैक्सन बोलियाँ सैक्सन आंग्ल्स और ज्यूट्स लोगों की थीं। वेसेक्स, ससेक्स, एसेक्स, केन्ट, वाइट, पूर्वी ऐंग्लिया, मरकिया तथा दक्षिणी सैक्सन के पूर्वाद्ध में रहते थे। ब्रिटेन में इसकी तीन शाखाएँ विकसित हुईं, जिन्हें मध्यवर्ती और दक्षिणी कह सकते हैं। आधुनिक अंग्रेजी मूलतः मध्यवर्ती विकसित हुई है। स्काटलैंड की बोलियों का जन्म उत्तरी से है। अंग्रेजी का आरम्भ 1100 ई. से माना जाता है। लगभग साढ़े तेरह सौ तक प्राचीन काल और साढ़े चौदह सौ तक मध्यकाल है। इसके बाद अंग्रेजी का काल आरम्भ होता है। आज की अंग्रेजी भाषा और उसका साहित्य संसार में धनी कहा जा सकता है। अंग्रेजी भाषा की तीन बोलियाँ हैं, जिनमें स्कॉट के निम्न भाग की नार्थम्बरियन प्रधान है। जर्मनी के उत्तरी भाग में प्लात्तदिउश शाखा है, जिसके अंतर्गत कई बोलियाँ हैं।

फ्रिजियन का आरम्भ तेरहवीं-चौदहवीं सदी से स्पष्ट मिलता है। इसमें तीन बोलियाँ थीं। पश्चिमी बोली का क्षेत्र हालैंड के उत्तरी भाग में था। पूर्वी फ्रिजियन यम्स और वेजर नदी के मुहाने के बीच में बोली जाती थी, और उत्तरी बोली एब नदी के मुहाने के उत्तर में। अब इसके बोलने वाले केवल जर्मनी और हालैंड के कुछ भागों में हैं। शेष क्षेत्रमें डच आदि भाषाओं ने अधिकार जमा लिया है।

फ्रैंक भाषा का क्षेत्र राइन से नीदरलैंड तक था। धीरे-धीरे इसकी भी उत्तरी, मध्य और दक्षिणी

तीन शाखाएँ हो गईं। दक्षिणी में उच्च जर्मन की प्रकृति है और उत्तरी में निम्न जर्मन की। मध्यवर्ती शाखा दोनों के बीच की है। इसमें दोनों की ही कुछ-कुछ बातें आ गई हैं। उत्तरी शाखा से ही नीदरलैंड की बोलियों का भी विकास हुआ है, जिनका साहित्य तेरहवीं सदी से मिलता है। इन बोलियों में डच और हालैंड की बोलियाँ प्रधान हैं। फ्लेनिश फ्लेंडर लोगों की बोली है, जो प्रमुखतः उच्चारण में ही डच से भिन्न हैं। 'बारबंत' बोली भी इसी का साधारण भिन्नता लिये हुए एक रूप है। ट्यूटानिक की पश्चिमी शाखा की ऊपर दी गई भाषाएँ तथा बोलियाँ केवल मध्य (जो तटस्थ हैं) तथा दक्षिणी (जो उच्च जर्मन में हैं) को छोड़कर निम्न जर्मन के अन्तर्गत आती हैं।

अब हम उच्च जर्मन को ले सकते हैं। संपूर्ण जर्मनी तथा आस्ट्रिया के एक बड़े भाग की यह साहित्यिक भाषा है। इसमें 3 प्रधान शाखाएँ हैं। अलमानिक का क्षेत्र, स्विटजरलैंड का जर्मन भाषा-भाषी प्रदेश, अलसेस तथा बादेन के दक्षिण में है। स्वाबियन पश्चिमी बवेरिया, उटेमबर्ग आदि में बोली जाती हैं बवेरियन बोलने वाले शेष बवेरिया तथा आस्ट्रिया के एक बड़े भाग में हैं।

उच्च जर्मन का इतिहास तीन कालों में विभक्त है। प्राचीन उच्च जर्मन, द्वितीय वर्ण-परिवर्तन के पश्चात् 7वीं सदी से आरम्भ होकर बारहवीं तक है। इसमें कुछ पुरानी कविताएँ, बाइबिल के खंडित अंश तथा कुछ और लेख आदि मिलते हैं। इसके बाद मध्य जर्मन का समय है। 'निबेलुंजेन' काव्य की रचना इसी में हुई है। वर्तमान उच्च जर्मन बहुत ही गंभीर और सुसंस्कृत है। यह रचनात्मक भाषा है, जिसमें किसी भी भाषा के किसी भी शब्द का अनुवाद आसानी से किया जा सकता है। पूरे ट्यूटानिक परिवार में उच्च जर्मन अपेक्षाकृत अपने मूल के सबसे अधिक निकट है। इसमें अंग्रेज़ी, फ्रेंच आदि से कुछ शब्द अवश्य उधार लिये गये हैं, पर उनका भी प्रायः स्वदेशीकरण कर लिया गया है। उच्च जर्मन भाषियों ने संस्कृत का भी गंभीर अध्ययन किया है और दर्शन एवं भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उनका प्रमुखस्थान है।

ट्यूटानिक वर्ग की सबसे प्राचीन भाषा गाथिक है। इसके अवशेष उलफिला नामक पादरी द्वारा किये गये बाइबिल के अनुवाद के अंश रूप में मिलते हैं। बाइबिल की पांडुलिपि लगभग पाँचवीं सदी की है, यद्यपि इसका रचना काल 350 ई. के समीप का है।

इसका क्षेत्र कारपैथियन्स के दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में था। कुछ प्रचार स्पेन और इटली में भी हुआ, पर वहाँ से शीघ्र ही यह समाप्त हो गई। कृष्ण सागर के किनारे यह भाषा नवीं सदी तक रहीं और कुछ स्थानों पर इसके 16वीं सदी तक रहने का भी संकेत मिलता है। आकृति की दृष्टि से यह अंत तक संयोगात्मक रही है। साथ ही द्विवचन आदि भारोपीय की पुरानी बातें भी इसमें सुरक्षित थीं। इस भाषा को संस्कृत के बहुत निकट कहा जाता है। अब इसके क्षेत्र में नार्स भाषाओं का प्रयोग होता है।

पूर्वी शाखा की दूसरी उपशाखा उत्तरी ट्यूटानिक या प्राचीन नार्स हैं रूनीलिपि में इसके अभिलेख 5वीं सदी तक के मिलते हैं। आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व तक इसकी शाखाओं में अन्तर नहीं हुआ

था। सभी में ध्वनि-सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ एक थीं। आइसलैंडिक भाषा में उसके उदाहरण हैं। आइसलैंडिक में लगभग 13वीं सदी के 'एड्डा' नाम पौराणिक गीत तथा स्काल्ड लोगों की कुछ कविताएँ भी हैं।

दसवीं सदी के लगभग उत्तरी यूटानिक की दो प्रधान शाखाएँ पूर्वी और पश्चिमी हो गईं। पूर्वी नार्स का विकास स्वेडिश के रूप में हुआ तथा पश्चिमी का नारवेजियन एवं आइसलैंडिक के रूप में। डैनिश भाषा डेनमार्क के अतिरिक्त उत्तरी श्लेस्विग तथा नार्वे के कुछ सभ्य लोगों में प्रयुक्त होता है। इसके नमूने 13वीं सदी तक के मिलते हैं। इसमें मुख-सुख के लिए ध्वनि-विकास खूब हुआ है। अन्य भाषाओं का भी इस भाषा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। स्वेडिश का प्रधान क्षेत्र स्वीडन तथा फिनलैंड का कुछ भाग है। इस भाषा में अब तक बहुत पुरानी प्रकृति पाई जाती है। भारोपीय परिवार की जीवित भाषाओं में से केवल यही एक ऐसी भाषा है, जिसमें संगीतात्मक स्वराघात आज भी स्पष्टतः मिलता है। नार्वे की भाषा नारवेजियन है। सम्पूर्ण आइसलैंड तथा स्कैण्डिनेविया के पश्चिमी भाग में आइसलैंडिक भाषा का प्रयोग होता है। यह भाषा अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण अब तक लगभग संयोगात्मक है और दूसरी भाषाओं का प्रभाव भी इस पर कम ही पड़ा है। इसमें इधर कुछ साहित्य-रचना भी हुई हैं

8. इटालिक(लैटिन)

इसका नाम इटाली भी है। इसकी सबसे पुरानी भाषा लैटिन है, जो आज रोमन कैथलिक सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा है। आरम्भ में लैटिन शाखा का प्रधान क्षेत्र इटली में था। केल्टिक की भाँति ही इस शाखा के भी दो वर्ग 'प' और 'क' हैं।

अम्ब्रो-सेन्ट्रिक शाखा की भाषाएँ उत्तरी अम्ब्रिया से लेकर दक्षिण में अपुलिया और लूकानिया तक, मध्य अपेनाइन्स के दोनों ओर बोली जाती थीं। इनमें प्रथम (अम्ब्रियन) एवं अन्तिम (ओस्कन) ही हम लोगों के लिए महत्वपूर्ण हैं। शब्द-समूह को छोड़कर ये दोनों आपस में काफ़ी समानता रखती हैं। लैटिन 'क' दोनों ही में 'प' हो जाता है। ओस्कन भाषा कुछ दिनों तक महत्वपूर्ण थी। अपने क्षेत्र में ईसा से सौ वर्ष पूर्व इसका पर्याप्त प्रचार था, और बाद में भी कुछ दिन तक रहा। इसके चिह्न , सिक्कों, लैटिन लेखकों के उद्धरणों तथा लगभग दो सौ लेखों (पत्थर तथा धातुपत्र पर) में मिलते हैं। ओस्कन ओस्की लोगों की भाषा थी जो कपुआ और बेनेवेंटम के आस-पास रहते थे।

अम्ब्रियन भाषा के भी प्राचीन लेख मिलते हैं, जो लगभग 200 वर्ष ई. पू. के हैं। अब इन सबके क्षेत्र में 'क' वर्ग की बोलियों का ही आधिपत्य है।

लैटिन बोलने वाले लोग लैटिअम के मैदानों में रहते थे। रोमन राज्य के विकास के साथ इस भाषा का भी विकास हुआ। इसके लेख 500 ई. पू. तक के मिलते हैं। धीरे-धीरे इस भाषा का प्रसार इतना हुआ था कि आज की रोमान्स भाषाओं के पूरे क्षेत्र में यह बोली जाने लगी थी। बहुत पहले से ही धीरे-धीरे यह

संयोग से वियोग की ओर आ रही थी।

इसके इतिहास को तीन कालों में बांटा जा सकता है। प्राचीन लैटिन का काल 500 ई. पू. से तीसरी सदी तक है। मध्यकालीन लैटिन के दो रूप हैं। एक तो बहुत संस्कृत थी, जो सभ्य लोगों की एवं साहित्य की भाषा थी। दूसरी भारतीय आर्य-भाषा के सादृश्य पर प्राकृत लैटिन कही जा सकती है। यह साधारण लोगों की भाषा थी। संस्कृत लैटिन का साहित्य में प्रयोग तीसरी सदी से 7वीं तक होता रहा। धीरे-धीरे प्राकृत लैटिन कही जा सकती है। यह साधारण लोगों की भाषा थी। संस्कृत लैटिन का साहित्य में प्रयोग तीसरी सदी से 7वीं तक होता रहा। धीरे-धीरे प्राकृत लैटिन में बहुत विकास हो गया। यही बाद में नियो-लैटिन हुई, जिसका क्षेत्र इटली, सिसिली, स्पेन, गाल और डेसिया में था। यह विजयी लोगों की भाषा थी और हारे हुए लोगों पर लादी गई। अतः परिवर्तन तेजी से होने लगा, जिसके फलस्वरूप यह रोमन साम्राज्य की राष्ट्रभाषा, अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग रूप में विकसित होनी लगी। थोड़े ही दिनों में अलग बोली, फिर अलग भाषाएँ हो गईं। इन्हें अब रोमान्स भाषाएँ इसलिए कहा जाता है कि ये रोम साम्राज्य की भाषाएँ थीं।

यहाँ प्रधान रोमन्स भाषाओं पर विचार किया जा रहा है।

इटाली या इतालवी का क्षेत्र इटली, टिसिनी, सिसली तथा कार्सिका में है। इसके लेख 7वीं सदी तक के मिलते हैं। इसमें भी कई बोलियाँ हो गई हैं। फ्लारेन्स की बोली ही प्रधान है, जिसमें दौंते ने 10वीं सदी में अपना काव्य लिखा। यही साहित्यिक भाषा भी है। बोलियों में आपस में अन्तर अधिक है। सबका साहित्य भी पृथक्-पृथक् है।

रोटोरोमन का नाम 'रेटियन', '-रोमाँश' या 'लेडिक' भी है। यह इटली, स्विट्ज़रलैंड तथा आस्ट्रिया के कुछ भागों में बोली जाती हैं। इस पर ट्युटानिक परिवार का काफ़ी प्रभाव अधिक पड़ा है।

रोमानियन भाषा रूमानिया, ट्रान्सिलवेनिया तथा ग्रीक के कुछ भागों में बोली जाती है। यह डैन्यूब नदी पर बसे रोमन लोगों की भाषा से निकली है। इसके लगभग चालीस प्रतिशत शब्द स्लाविक हैं। अन्य रोमान्स भाषाओं के प्रतिकूल इस में बलगेरियन की भाँति उपपद प्रत्यय की तरह शब्दों के अन्त में लगाये जाते हैं।

प्रोवेंकल भाषा रोमान्स भाषाओं में प्रथम भाषा है। जिसमें साहित्य-साधन का श्रीगणेश हुआ। इसकी प्रथम कविता नवीं सदी की है। इसका क्षेत्र दक्षिणी फ्रांस है। 12वीं से 13वीं सदी तक इसमें साहित्य लिखा गया। बाद में फ्रेंच भाषा ने इसे दबा लिया और अब इसके बोलने वाले फ्रांस के दक्षिणी-पूर्वी भाग में थोड़े से ही और बचे हैं।

प्राकृत लैटिन के स्पेन में पहुंचने के पूर्व वहाँ बास्कर और अबरी का राज्य था इन दोनों (बास्क

तथा अरबी) का ही शब्दसमूह तथा ध्वनि के क्षेत्र में स्पैनिश भाषा पर प्रभाव पड़ा। इसी कारण रोमांस भाषाओं में स्पैनिश ही मूल लैटिन से अपेक्षाकृत बहुत दूर हट गई है। इसमें बहुत-सी बोलियाँ हैं, जिनमें कैस्टाइल प्रधान है। यही वहाँ की साहित्यिक एवं राज्य-भाषा है। स्पेन के लोगों के साथ-साथ अब यह स्पेन से बाहर भी चली गई है। अमेरिका में भी इसके बोलनेवाली काफ़ी हैं।

फ्रांसीसी इस वर्ग की सबसे प्रधान भाषा है। यह पेरिस की बोली का विकसित रूप है। इसके चिह्न आठवीं सदी उत्तरार्द्ध तक के मिलते हैं। 9वीं से 13वीं सदी तक इसका प्राचीन काल है। उसके बाद इसका विकास तेजी से आरम्भ हुआ। इसके बोलने वालों ने सभी भाषाओं के शब्द उधार लेकर तथा अनेक नये शब्द गढ़ कर शब्द-समूह धनी बनाया और साहित्य भी पर्याप्त रूप में लिखा। इसका उच्चारण बहुत कठिन तथा लिखित भाषा से बहुत भिन्न होता है। यह बहुत दिनों तक यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। अमेरिका, अफ्रीका और एशिया में भी इसके कुछ क्षेत्र हैं। इसमें संगीतात्मक बलाघात काफ़ी मात्रा में विद्यमान हैं तथा यह बहुत ही मधुर है।

पुर्तगाली भाषा स्पैनिश से मिलती-जुलती है। इस पर फ्रेंच और मूर लोगों का भी प्रभाव पड़ा है। इसके लेख तेरहवीं सदी उत्तरार्द्ध से मिलते हैं। अफ्रीका में भी इसके छोटे-छोटे क्षेत्र हैं। भारतीय भाषाओं के शब्द-समूह पर इसका कुछ प्रभाव पड़ा है।

पुर्तगाल और स्पेन के यहूदियों की भाषा पुर्तगाली और स्पैनिश से भिन्न है। जिसे सेफ़ार्डी कहते हैं। इसका ढाँचा तो स्पैनिश-सा ही है पर शेष बातें सेमिटिक परिवार से मिलती-जुलती हैं।

9. हिटाइट(हिती)

सन् 1906-7 में तुर्की के बोगाजकोई नामक स्थान पर हिती भाषा के कीलाक्षर-अभिलेखों से ही इस भाषा का पता चला है। इन्हें भारोपीय परिवार के प्राचीनतम अभिलेख माना जाता है, जिनका काल सन् 1900 ई. पू. से 1950 ई. पू. तक है। भारोपीय परिवार से हिती का सम्बन्ध वैसा ही है, जैसा कि संस्कृत अथवा ग्रीक का इतालवी (लैटिन) से।

विद्वानों का विचार है कि हिती तथा तोखारी ये ही दोनों भाषाएँ हैं, जो सबसे पहले भारोपीय परिवार से पृथक् हुई थीं। यही कारण है कि 'स्टर्टवाण्ट' तथा कुछ अन्य विद्वान् भारोपीय परिवार को 'भारत-हिती' कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं।

हिती भाषा की प्रमुख विशेषताएँ

1. यह केन्तुम् वर्ग की भाषा मानी जाती है, क्योंकि यह लैटिन के बहुत अधिक निकट है।
2. इसमें हू ध्वनि दो प्रकार की है। यह हिती भाषा की प्रमुख विशेषता है जो भारोपीय परिवार की अन्य किसी भाषा में नहीं है।

3. म् और न् ध्वनि का स्वरूप भारोपीय भाषाओं से भिन्न है।
4. कारक छह हैं।
5. लिंग दो हैं पुंल्लिंग और नपुंसकलिंग। स्त्रीलिंग का अभाव है।
6. तीन वचन थे परन्तु द्विवचन का प्रयोग बहुत कम था।
7. काल केवल दो थे- भूत और वर्तमान। दो क्रियार्थ भेद थे- निश्चयार्थक और आज्ञार्थक।
8. द्वित्व का प्रयोग क्रिया और संज्ञा रूपों में होता था। जैसे आक आकस् (मेंडक), काल कालटु रे (एक प्रकार का बाजा), काट्-काट्-एन (नहाना) आदि।
9. इसमें योगात्मक और वियोगात्मक दोनों प्रवृत्ति पाई जाती हैं।

10. तोखारी

अंग्रेज़, फ्रेंच, रूसी तथा जर्मन विद्वानों ने बीसवीं सदी के आरम्भ में पूर्वी तुर्किस्तान के तुरफ़ान प्रदेश में कुछ ऐसे ग्रन्थ तथा पत्र प्राप्त किये जो भारतीय लिपि (ब्राह्मी तथा खरोष्ठी) में थे। प्रो. सीग ने इनका अध्ययन किया, जिसके फलस्वरूप यह भाषा भारोपीय परिवार की सिद्ध हुई। इसके बोलने वाले 'तोखार' लोग थे; अतः इस भाषा को तोखारी कहा गया। समीपता के कारण इस पर यूराल-अल्टाई परिवार का बहुत प्रभाव पड़ा है। ग्रीयर्सन के अनुसार महाभारत एवं ग्रीक पुस्तकों में क्रम से 'तुषाराः' तथा तोखारोई जाति का नाम है। सम्भव है यह उन्हीं लोगों की भाषा हो। ये लोग दूसरी सदी ई. पू. में मध्य-एशिया के शासक थे। सातवीं सदी के लगभग यह भाषा लुप्त हो गई। तोखारी भाषा में स्वरों की जटिलता कम है। सन्धि-नियम कुछ संस्कृत जैसे हैं संख्याओं के नाम एवं सर्वनाम भी भारोपीय परिवार से साम्य रखते हैं। विभक्तियाँ भी उसी रूप में आठ हैं। शब्द-भंडार भी संस्कृत के समीप है। सौ के लिए तोखारी शब्द 'कन्ध' है, इसी कारण यह केन्तुम् वर्ग की भाषा मानी गई है।

तोखारी भाषा में जो सामग्री मिली है, उसके अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें दो बोलियों का प्रयोग हुआ है। एक को विद्वानों ने 'अ' तथा दूसरी को 'ब' कहा है। इनमें 'अ' तोखारों की भाषा है और 'ब' कूचा प्रदेश की। ऐसी स्थिति में पहली को तो 'तोखारी' और दूसरी को 'कूची' कहा जा सकता है।

भारोपीय परिवार का महत्त्व

विश्व के भाषा परिवारों में भारोपीय का सर्वाधिक महत्त्व है। यह विषय, निश्चय ही सन्देह एवं विवाद से परे है। इसके महत्त्व के अनेक कारणों में से सर्वप्रथम, तीन प्रमुख कारण यहाँ उल्लेख है-

1. विश्व में इस परिवार के भाषा-भाषियों की संख्या सर्वाधिक है।

2. भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए इस परिवार में सभी सुविधाएँ हैं। जैसे-
(क) व्यापकता, (ख) स्पष्टता, तथा (ग) निश्चयात्मकता।
3. प्रारम्भ से ही इस परिवार की भाषाओं का, भाषा की दृष्टि से, विवेचन होता रहा है, जिससे उनका विकासक्रम स्पष्ट होता है।
4. संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि इस परिवार की भाषाओं का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है, जो प्राचीन काल से आज तक इन भाषाओं के विकास का ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करता है और जिसके कारण इस परिवार के अध्ययन में निश्चयात्मकता रहती है।
5. अपने राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से भी यह परिवार महत्वपूर्ण है। कारण, प्राचीनकाल में भारत ने तथा आधुनिक काल में यूरोप ने विश्व के अन्य अनेक भू-भागों पर आधिपत्य प्राप्त करके अपनी भाषाओं का प्रचार तथा विकास किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथा अन्य अनेक कारणों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि विश्व के भाषा-परिवारों में 'भारोपीय परिवार' का महत्व निस्सन्देह सर्वाधिक है।

2.4. भारत-ईरानी परिवार

पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि भारत-ईरानी परिवार भारोपीय भाषा का महत्वपूर्ण परिवार है। इसे आर्य परिवार भी कहते हैं। यह परिवार सतम् वर्ग से संबंधित है। इस परिवार में ईरान और भारत की भाषाएँ आती हैं। ईरानी और भारतीय शाखाओं में इतनी अधिक समानता है कि दोनों को एक परिवार के अन्तर्गत रखा गया है। ईरान शब्द आर्याणाम् का अपभ्रंश रूप माना जाता है।

महत्त्व

डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने भारत-ईरानी शाखा का महत्त्व इस प्रकार वर्णित किया है-

1. प्राचीनतम साहित्य- विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' अपने शुद्ध एवं प्राचीनतम रूप से संस्कृत में उपलब्ध है। समस्त वैदिक साहित्य इसी भाषा में प्राप्य है। पाश्चात्य विद्वान् ऋग्वेद का समय 3 हजार ई. पू. से 2 हजार ई. पू. के मध्य मानते हैं। अधिकांश भारतीय विद्वान् वैदिक काल का प्रारम्भ 4 हजार ई. पू. के लगभग मानते हैं। वैदिक साहित्य का समय 4 हजार ई. पू. से 1 हजार ई. पू. के मध्य माना जाता है। इतना प्राचीन साहित्य किसी भाषा में नहीं है।
2. अवेस्ता- पारसियों का धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' (700 ई. पू. के लगभग) इसी शाखा से प्राप्य है। यह वैदिक काल के समकक्ष है।
3. भाषा-विज्ञान का जन्मदाता- यूरोप में संस्कृत और अवेस्ता के तुलनात्मक अध्ययन ने ही

‘तुलनात्मक भाषाविज्ञान’ को जन्म दिया है। संस्कृत भाषाशास्त्र की जननी है।

4. प्राचीन वर्णमाला एवं ध्वनियाँ-मूल भारोपीय भाषा की प्राचीन ध्वनियों के निर्धारण में संस्कृत और अवेस्ता का असाधारण योगदान है।
5. प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता-विश्व की प्राचीनतम संस्कृति और सभ्यता का सर्वांगीण इतिहास संस्कृत और अवेस्ता भाषा के साहित्य से प्राप्त होता है।
6. भाषाशास्त्रीय देन-भाषाशास्त्र की ध्वनिविज्ञान (शिक्षा), पद-विज्ञान (व्याकरण) और अर्थविज्ञान (निरुक्त) का मौलिक आधार संस्कृत से ही प्राप्त होता है।

आर्यशाखा

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि मूल भारोपीय भाषा-भाषियों की दो शाखाएँ हुईं। एक शाखा भारत और ईरान में पहुँची और दूसरी रूस और यूरोप में। भारत में प्रचलित शाखा को भारतीय या हिन्द शाखा कहा जाता है तथा ईरान में प्रचलित शाखा को ईरानी। जिस प्रकार भारतीय आर्यभाषा को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है-प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक, उसी प्रकार ईरानी के भी तीन वर्ग मिलते हैं। भारोपीय और ईरानी भाषाओं का विकास प्रायः समानान्तर हुआ है।

ईरानी भाषाएँ

जिस प्रकार भारतीय आर्यभाषाओं को कालक्रम की दृष्टि से तीन भागों में बांटा जाता है-प्राचीन युग, मध्य युग और आधुनिक युग, उसी प्रकार ईरानी भाषाओं को भी इन्हीं तीन वर्गों में बांटा जाता है। इसकी रूपरेखा इस प्रकार है:

1. प्राचीन युग

ईरान का प्राचीन साहित्य काफी समृद्ध था। उसका बहुत थोड़ा साहित्य आज उपलब्ध है। दो बार इस साहित्य को समूल नष्ट करने का प्रयत्न किया गया। 331 ई. पू. में महान् सिकन्दर ने इसे नष्ट किया। जो कुछ साहित्य बचा था, उसे ससानियन राजाओं ने संभाल कर रखा, परन्तु ‘खलीफा अल-मुतवक्किल’ (847-861 ई.) और उसके वंशजों ने इसे पुनः नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जो कुछ साहित्य बचा है, वह ‘अवेस्ता’ में संगृहीत है। प्राचीन ईरानी की दो प्रमुख भाषाएँ थीं-

(i) पूर्वी ईरानी: इसको ‘अवेस्ता’ कहते हैं। यह पारसियों के धर्मग्रन्थों की भाषा है। पारसियों के धर्मग्रन्थों को भी ‘अवेस्ता’ कहते हैं और उनकी भाषा को भी। जिस प्रकार संस्कृत में ‘छन्दस्’ के दोनों अर्थ हैं- 1. वेद, 2. वैदिक भाषा, उसी प्रकार ‘अवेस्ता’ धर्मग्रन्थ और धर्मग्रन्थों की भाषा दोनों के लिए है। अवेस्ता की जो टीका हुई है, उसे जेन्द (संस्कृत छन्दस्) कहते हैं। जेन्द का अर्थ ‘टीका’ है। अवेस्ता

संस्कृत 'अवस्था' का अपभ्रंश रूप हैं इसका अर्थ है-अवस्था, व्यवस्था, व्यवस्थित रूप से संगृहीत धर्मग्रन्थ। 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थों को 'जेन्दावेस्ता' कहना अशुद्ध है, परन्तु प्रचलन के आधार पर ऐसा कहा जाता है। अवेस्ता का समय 700 ई. पू. माना जाता है।

(ii) पश्चिमी ईरानी: इसको 'प्राचीन फारसी' कहते हैं। पश्चिमी ईरान को फारस कहते थे। इसमें अकीमिनियन साम्राज्य के संस्थापक कुरुश (558-530 ई. पू.) के अभिलेख मिलते हैं। इसके पश्चात् दारा प्रथम (कृतपने पू 522-486 ई. पू.) के बेहिस्तून शिलालेख मिलते हैं। ये अत्यन्त प्रसिद्ध एवं आज तक सुरक्षित हैं। इनसे प्राचीन फारसी के स्वरूप का ज्ञान होता है। दारा प्रथम के राज्यकाल में प्राचीन फारसी राजभाषा थी। प्राचीनता में यह अवेस्ता के कुछ बाद की है। यह अवेस्ता से काफी मिलती है।

2. मध्ययुग:

प्राचीन फारसी को हख्मानी (अकीमिनियन) फारसी भी कहते हैं। इसका ही विकसित रूप मध्ययुगीन 'फारसी' या 'पहलवी' है। इसका प्राचीनतम रूप तृतीय शती ई. पू. के कुछ सिक्कों में प्राप्त होता है। पहलवी का प्राचीनतम शिलालेख अर्दशिर (226-241 ई.) के राज्यकाल का है। बीच के चार सौ वर्षों का कोई लेख नहीं मिलता है। पहलवी का साहित्य तृतीय शती ई. से मिलता है। पहलवी के दो रूप हैं- 1. हुज्वारेश, 2. पारसी या पाज़न्द।

(i) हुज्वारेश- इसमें सेमिटिक शब्दावली अधिक है। इसका वाक्यविन्यास सेमिटिक से प्रभावित है और लिपि भी सेमिटिक है। यह ससानियन राजवंश (216 ई.-652 ई.) की भाषा थी। इसमें अवेस्ता का अनुवाद हुआ है। ससानी काल में प्रयत्न हुआ था कि सामी शब्दों को हटाकर आर्य शब्द पहलवी में रखे जाएँ। इस दिशा में काफी सफलता भी मिली थी। हुज्वारेश नाम अधिक समय तक नहीं चल पाया।

(ii) पारसी या पाज़न्द- यह पहलवी का परिष्कृत रूप था। इसकी वर्णमाला सुस्पष्ट थी। एक ध्वनि के लिए एक चिह्न रखा गया। इस नवीन वर्णमाला का प्रयोग पहलवी में प्रचलित हुआ। इसमें आर्य शब्दावली का प्रयोग विशेष रूप से हुआ और सामी शब्दों का बहिष्कार किया गया। इसे 'पारसी' या पाज़न्द कहते हैं। पूर्वी ईरान में इसका प्रचार था। भारत में आने वाले पारसियों की यही भाषा थी। अतएव पाज़न्द भाषा ने गुजराती को बहुत प्रभावित किया है।

3. आधुनिक युग:

जिस प्रकार संस्कृत से हिन्दी का विकास हुआ है, उसी प्रकार प्राचीन फारसी से आधुनिक फारसी का विकास हुआ है। आधुनिक फारसी वियोगात्मक हो गई है। यह ईरान की राष्ट्रभाषा है। इसका प्रारम्भिक ग्रन्थ महाकवि फिरदौसी (940-1020 ई.) का 'शाहनामा' है। यह राष्ट्रीय महाकाव्य है, इसमें अरबी शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं है। वर्तमान फारसी में अरबी शब्दों का बाहुल्य है। अब फारसी में 70

प्रतिशत तक अरबी शब्द मिलते हैं।

आधुनिक फारसी अरबी लिपि में लिखी जाती हैं। इसका साहित्य-समृद्ध है। जिस प्रकार तुर्की ने अरबी शब्दों का बहिष्कार करके अपनी भाषा के शब्द रखे हैं, उसी प्रकार ईरानी में भी अरबी शब्दों के बहिष्कार की लहर चली है। अरबी शब्दों के स्थान आर्य-परिवार के शब्द बढ़ रहे हैं। आधुनिक फारसी की अनेक बोलियाँ हैं। इसमें मुख्य हैं- 1. पश्तो, 2. बलूची, 3. पामीरी, 4. कुर्दिश।

(i) **पश्तो**- यह अफगानिस्तान की भाषा है इसे अफगानी भी कहते हैं। इस पर भारतीय ध्वनि, वाक्य-रचना और बलाघात आदि का प्रभाव दृष्टि गोचर होता है। यह भारतीय और ईरानी के मध्य की भाषा है। कुछ विद्वान् पश्ती को अवेस्ता से विकसित मानते हैं। पश्तो का ही एक रूप 'पख्तो' है। यह पश्चिमोत्तर अफगानिस्तान में बोली जाती है। इन दोनों में उच्चारण का भेद ही मुख्य है।

(ii) **बलूची**- यह विलोचिस्तान की भाषा है। यह आधुनिक फारसी के समीप है। व्याकरण और साहित्य की दृष्टि से बहुत पिछड़ी हुई है। साहित्य में केवल ग्राम-कथा और वीरगाथा-गीत है। यह अभी तक कुछ संयोगात्मक है। इसमें संघर्षी वर्ण प्रायः स्पर्श हो गए हैं।

(iii) **पामीरी**- पामीरी भाषाएँ पामीर के पठार की घाटियों में फैली हुई हैं। चित्राल और हिन्दुकुश पर्वत में पामीरी भाषा की वारवी और यिदघाह बोलियाँ प्रचलित हैं। इन बोलियों पर ईरानी का पर्याप्त प्रभाव है।

(iv) **कुर्दिश**- इसको कुर्दी भी कहते हैं। यह वर्तमान फारसी के निकट है। यह कुर्दिस्तान की बोली है। इसमें शब्दों के रूप छोटे हो गए हैं। जैसे-फारसी बिरादर>बेरा, सिपेद (सफेद)> स्पी। कुर्दिस्तान में राष्ट्रीय जागरण हुआ है। वहाँ के स्थानीय विद्वान् वैज्ञानिक दृष्टि से भाषा के अध्ययन में लगे हैं। नया कुर्दिश साहित्य तैयार हो रहा है।

4. दरद भाषाएँ- दरद भाषाओं का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के मध्य में है। संस्कृत में कश्मीर के पास के देश के लिए दरद शब्द का प्रयोग मिलता है। रचना की दृष्टि से दरद भाषाएँ पश्तो के तुल्य भारतीय और ईरानी के मध्यगत हैं। पश्तो का झुकाव ईरानी की ओर है और दरद भाषाओं का भारतीय की ओर। प्राचीन समय में दरद भाषाओं को पैशाची प्राकृत कहते थे। दरद वर्ग की लोवार भाषा का क्षेत्र दार्दिस्तान और ईरान के मध्य में है। इसकी बोलियों में चित्राली मुख्य है। गिलगिट की घाटी में शीना बोली जाती है। कश्मीर की भाषा कश्मीरी है। गुणे आदि कुछ विद्वान् इसे पैशाची अपभ्रंश से विकसित मानते हैं और भारतीय भाषा मानते हैं। कुछ इसे 'दरद' भाषाओं में रखते हैं। इस पर संस्कृत का काफी प्रभाव है।

वैदिक संस्कृत और अवेस्ता की तुलना

भारत की प्राचीनतम भाषा संस्कृत है। इसका भी प्राचीनतम रूप वैदिक संस्कृत में मिलता है। ईरान की प्राचीन भाषा 'अवेस्ता' है। ईरानियों के धर्मग्रन्थ का नाम 'अवेस्ता' है। इनकी भाषा को भी 'अवेस्ता' ही कहते हैं। 'अवेस्ता' संस्कृत 'अवस्था' का अपभ्रंश है, इसका अर्थ है- 'व्यवस्थित, परिनिष्ठित रूप'। अतः 'अवेस्ता' शब्द 'धर्मग्रन्थ' का वाचक है। ज़ेन्द शब्द 'छन्दस' का अपभ्रंश है। इसका अर्थ है-टीका, व्याख्या। अवेस्ता की टीका को ज़ेन्द कहते हैं। यह पहलवी भाषा में है। टीका-सहित धर्मग्रन्थ को 'ज़ेन्दावेस्ता' कहते हैं। भूल से या प्रचलन के आधार पर 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ को 'ज़ेन्दावेस्ता' भी कहते हैं। 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ की भाषा, शब्दावली, रचना, छन्दोयोजना और भावावलि वैदिक मन्त्रों से बहुत अधिक मिलती है। संस्कृत और अवेस्ता के ध्वनि-नियमों को जाननेवाला कोई भी संस्कृतज्ञ वेद के मन्त्र को अवेस्ता में और अवेस्ता की गाथाओं को वैदिक मन्त्र के रूप में परिवर्तित कर सकता है।

संस्कृत और अवेस्ता की समानताएँ

1. भारोपीय कवर्ग (कंठ-तालव्य-क्य्, ख्य् आदि) भारत-ईरानी में क्रमशः श्, श्ह, ज्ह हुए। बाद में संस्कृत में श्, ज्, ह् हुए और ईरानी में स्, ज्, ज्ह।
2. भारोपीय कवर्ग (कंठोष्ठ्य-क्व्, ख्व् आदि) क्, ख्, ग्, घ् हुए। यदि इनके बाद इ, ए, स्वर थे तो ये चवर्ग च् छ् ज् झ् हुए।
3. अजन्त शब्दों में षष्ठी बहु. में 'नाम्' प्रत्यय।
4. लोट् लकार प्रथम पुरुष एक. में 'तु' प्रत्यय।
5. अवेस्ता में भी संस्कृत के तुल्य विशेषणों के रूप विशेष्य के तुल्य चलते हैं।
6. अवेस्ता में भी संस्कृत के तुल्य संख्याएँ और संख्येय (प्रथम आदि) शब्द मिलते-जुलते हैं। संस्कृत- एकः, द्वौ, त्रयः, चत्वारः, पंच आदि। अवेस्ता-अतएव, द्वा, त्रि, चथ्वर, पंच, श्वश, हस्त, अश्ट, नव, आदि। विसति (20), त्रिसत् (30)। फतम (प्रथम), बित्य (द्वितीय), श्रित्य (तृतीय), तुइर्य (तुर्य, चतुर्थ)।
7. सर्वनाम शब्दों में भी अधिकांश में साम्य है। युष्मद्, अस्मद् के तुल्य रूप मिलते हैं। अज़म् (अहम्), मा (माम्), मत् (मत्), मे (मे)। तूम (त्वम्), थ्वम् (त्वाम्), थ्वत् (त्वत्), तव (तव)।
8. अवेस्ता में वाच्य, काल, वृत्ति, लेट् लकार का प्रयोग आदि वैदिक संस्कृत के तुल्य है। तुमन्, ल्यप् (य) वाले रूप भी हैं। इनके प्रयोग में भी समानता है। परस्मैपद और आत्मनेपद वाले तिङ् प्रत्यय भी हैं। जैसे-परस्मैपद ति, हि, मि (सं. ति, सि, मि)।

9. अवेस्ता में भी संस्कृत के तुल्य 10 गण हैं। इसमें भी विकरण (अ, य, अय आदि) और अविकरण (शप्-लोप आदि) भेद हैं। शप्, श्यन्, श्रु, श्रम्, श्रा आदि के तुल्य अ, य, अय, नु न्, ना, उ आदि विकरण हैं। लोट्, विधिलिङ् आदि के अतिरिक्त लेट् (वैदिक लकार) के भी रूप मिलते हैं।
10. अवेस्ता में लिट् (परोक्षभूत) में द्वित्व वाले रूप मिलते हैं। ददार (सं. दधार)। लुङ् में संस्कृत के तुल्य स्-युक्त, स्-रहित आदि अनेक भेद मिलते हैं। अवेस्ता में लङ्, लुङ् में धातु से पूर्व अ (अडागम) प्रायः नहीं मिलता है। जैसे-दात् (सं. अधात्) दामा (सं. अधाम)।
11. अवेस्ता में लृट् (भविष्यत्) में संस्कृत के तुल्य 'स्य' का 'ह्य' विकरण मिलता है। भविष्यत् का शतृ प्रत्ययान्तरूप भी मिलता है। जैसे-प्रवह्य (सं. प्रवक्ष्यामि), बूश्यन्त् (सं. भविष्यन्त्)।
12. अवेस्ता में संस्कृत के तुल्य शतृ, त-इत-न, ल्यप् (य), तुमुन् अर्थ वाले वैदिक प्रत्यय-तुम, ध्यै, तयै, असे आदि भी मिलते हैं।
13. वैदिक मन्त्रों और अवेस्ता की गाथाओं की छन्दोरचना में बहुत अधिक साम्य है। डा. हाउग और पादरी मिल्स ने छन्दोरचना में इस साम्य की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया है। अवेस्ता में गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् आदि छन्द मिलते हैं। यस्त्र 44-3 उश्तवइति गाथा त्रिष्टुप् छन्द में है। इसमें 11 वर्ण वाले 5 पाद हैं। स्पेन्तमेन्यु गाथा पूर्णतया त्रिष्टुप् छन्द में हैं। इसमें 11 वर्ण वाले 4 पाद हैं। इसी प्रकार यस्त्र 31-8 गायत्री छन्द (8 वर्ण × 3 पाद = 24 वर्ण) में है। यहाँ विशेष उल्लेखनीय है कि यजुर्वेद और अथर्ववेद में छन्दों के आसुरी भेद मिलते हैं जैसे-गायत्री आसुरी, उष्णिक् आसुरी, पंक्ति आसुरी आदि। गायत्री आसुरी में 2 पाद, 15 वर्ण, उष्णिक् आसुरी में 2 पाद, 14 वर्ण, पंक्ति आसुरी में 11 वर्ण वाले 5 पाद। ये सभी छन्द अवेस्ता की गाथाओं में मिलते हैं। छन्दों में वर्णों और पादों की न्यूनता या अधिकता के आधार पर इन्हें आसुरी (असुरों का) नाम दिया गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृत और अवेस्ता एक ही भाषा के दो पृथक् विकसित रूप हैं। अवेस्ता वैदिक संस्कृत के बहुत समीप है।

संस्कृत और अवेस्ता की विषमताएँ

संस्कृत और अवेस्ता भाषाओं में अनेक विषमताएँ भी हैं, जिसके कारण इन्हें अलग-अलग रखा गया है। ये हैं:- सं. = संस्कृत, अ. = अवेस्ता।

1. मात्राभेद-दोनों में स्वरमात्राओं में भेद मिलता है। सं. अथ > अ. अथा, स. ऋतुम् > रतुम्।
2. अवेस्ता में स्वरों का बाहुल्य है। अवेस्ता में 8 स्वर हैं, जिनके स्थान पर संस्कृत में केवल अ, आ 2 स्वर मिलते हैं।

3. अवेस्ता में स्वर-समुदाय का प्रयोग अधिक है। संस्कृत ए, ओ, ऐ, औ के स्थान पर क्रमशः अए, अओ, आइ, आउ मिलते हैं।
4. सं. ऋ के स्थान अर्, र् या अ मिलता है। कृणोति > करनओति।
5. सं. क्, त्, प् को क्रमशः संघर्षी ख्, थ्, फ् हो जाते हैं। क्रतुः > खतुश्, सत्य > हइथ्यो, स्वप्नम् > हुअफ्नम्। स्वाप > ख् वाब (फा.)।
6. सं. घ्, ध्, भ् को ग्, द्, ब् हो जाते हैं। जंघा > जंगा, धारयत् > दारयत्, भूमि > बूमि।
7. सं. स् को ह। सिन्धु > हिन्दु, असुर > अहुर, सोम > होम, सप्त > हप्त, सप्ताह > हफ्ता (फा.)।
8. सं. ह को ज्। हृदय > जरदय, हस्त > जस्त (फारसी दस्त)।
9. सं. श्व को स्प। विश्व > विस्प, अश्व > अस्प।
10. अवेस्ता में चवर्ग में से केवल च्, ज् हैं।
11. अवेस्ता में टवर्ग सर्वथा नहीं है।
12. अवेस्ता में नासिक्य ध्वनियाँ ङ्, न्, म् हैं। ज्, ण् नहीं है।
13. अवेस्ता में ल् सर्वथा नहीं है। इसके स्थान पर र् है।
14. कवर्ग आदि वर्गों के चतुर्थ वर्ण अवेस्ता में नहीं है।
15. अवेस्ता में अन्तिम स्वरों को दीर्घ हो जाता है। असुर > अहुरा, असि > अही। संस्कृत के एकाक्षर निपातों को दीर्घ हो जाता है। नु > नू, प्र > फ्रा। अन्तिम म् से पूर्ववर्ती संस्कृत के इ, उ को दीर्घ हो जाता है। पतिम् > पइतीम्।

2.5. संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश का उद्भव विकास तथा तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय आर्यभाषाएँ

भारतीय आर्यभाषाओं में वैदिक संस्कृत से लेकर आधुनिक भाषाएँ तक आती हैं। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने भारतीय आर्यभाषाओं का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है-

काल-विभाजन

भारतीय आर्यभाषाओं को काल की दृष्टि से तीन भागों में बांटा जाता है:-

(क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ(प्रा. भा. आ.)-2500 ई. पू. से 500 ई. पू. तक।

(ख) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ(म. भा. आ.)-500 ई. पू. से 1000 ई. तक।

(ग) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ(आ. भा. आ.)-1000 ई. से वर्तमान समय तक।

(क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ (प्रा. भा. आ.)

प्राचीन आर्यभाषा का स्वरूप ऋग्वेद से प्राप्त होता है। सामान्यतया प्रा. भा. आ. का काल 1500 ई. पू. से 500 ई. पू. तक माना जाता है, परन्तु भारतीय और पाश्चात्य ऋग्वेद का समय 2500 ई. पू. के बाद का नहीं मानते हैं, अतः काल-विभाजन में प्रा. भा. आ. का प्रारम्भ 2500 ई. पू. से माना जाता है।

प्रा. भा. आ. विकासक्रम के अनुसार दो भागों में विभक्त है:-1. वैदिक संस्कृत, 2. लौकिक संस्कृत

वैदिक संस्कृत

वैदिक संस्कृत- वैदिक संस्कृत को 'वैदिक', 'वैदिकी', 'छन्दस', 'छान्दस' भी कहा जाता है। इसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में मिलता है। पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने भाषिक तुलना के आधार पर ऋग्वेद के 2 से 9 मंडलों को अधिक प्राचीन तथा 1 और 10 मंडलों को अपेक्षाकृत परवर्ती माना है। अन्य वेदों का समय इसके बाद का माना है। वैदिक काल की समाप्ति 500 ई. पू. में मानी गई है।

ऋग्वेद छन्दोबद्ध है, अतः उसे 'छन्दस' कहा जाता है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में गद्य अंश भी हैं, इससे प्राचीन गद्य का स्वरूपज्ञात होता है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी गद्य में हैं, इनसे प्रचलित भाषा का स्वरूप ज्ञात होता है।

वैदिक संस्कृत किसी समय जनभाषा थी। यह मुख्य रूप से साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यों के लिए प्रयुक्त होती थी। अतः समस्त प्राचीनतम संस्कृत वाङ्मय वैदिक संस्कृत में मिलता है। इसके साथ ही लोकभाषाएँ भी प्रचलित रही होंगी, उनसे संस्कृत के विभिन्न रूप प्रचलित हुए। पाणिनि आदि ने इनको 'प्राचाम्' (पूर्वी), उदीचाम् (उत्तरी) आदि कहकर स्पष्ट किया है। संस्कृत के इन विभिन्न रूपों में विभिन्न प्राकृतों और अपभ्रंशों का विकास हुआ और अन्त में हिन्दी आदि प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ।

वैदिक संस्कृत की ध्वनियाँ

स्वर

मूल स्वर- अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, = (9)

संयुक्त स्वर - ए, ओ, अइ (ऐ) अउ (औ) = (4)

व्यंजन

स्पर्श- क् ख् ग् घ् ङ् (कण्ठ्य)

च् छ् ज् झ् ज (तालव्य)
 ट् ट् ड् (ळ) ढ् (ळ्ह) ण् (मूर्धन्य)
 त् थ् द् ध् न् (दन्त्य)
 प् फ् ब् भ् म् (ओष्ठ्य) = (27)

अन्तस्थ- य् र् ल् व् = (4)

अघोष संघर्षी- श् ष् स् = (3)

घोष ऊष्म - ह् = (1)

अघोष ऊष्म- : (विसर्ग), क् (जिह्वामूलीय), प् (उपध्मानीय) = (3)

शुद्ध अनुस्वार - ँ = (1)

कुल = (52)

मूलभारोपीय और वैदिक ध्वनियों में अन्तर

मूल भारोपीय (मू. भा.) ध्वनियों और वैदिक संस्कृत (वै. सं.) की ध्वनियों में कुछ अन्तर हो गए हैं। वे हैं:-

1. मू. भा. के ह्रस्व मूल स्वर अ, ए, ओ वै. सं. में 'अ' हो गए हैं।
2. मू. भा. के तीनों मूल दीर्घ स्वर आ, ए, ओ वै. सं. में 'आ' हो गए हैं।
3. मू. भा. अन्तस्थ न्, म् का वै. सं. में लोप हो गया है।
4. मू. भा. में 3 प्रकार का कवर्ग है। वै. सं. में केवल एक प्रकार का है।
5. वै. सं. में चवर्ग और टवर्ग नवीन ध्वनियाँ हैं।
6. मू. भा. ऊष्म स् के साथ ही वै. सं. में श् और ष् नये आ गये हैं।
7. मू. भा. संयुक्त स्वर ह्रस्व और दीर्घ 36 के स्थान पर केवल चार संयुक्त स्वर-ए, ओ, ऐ, औ शेष रहे।
8. वै सं. में ळ, ळ्ह ध्वनियाँ ढ, ढ के स्थान पर नवीन है। इनसे ही हिन्दी में क्रमशः ड और ढ ध्वनियाँ विकसित हुई हैं।
9. वै. सं. के अनुस्वार के स्थान पर ह्रस्व और दीर्घ ग्वं-ग्वं मिलते हैं। ये नासिक्य के साथ कंठ्य भी हैं। अल्प प्रयुक्त होने से इनकी गणना पृथक् नहीं की जाती है।

वैदिक और लौकिक संस्कृत की समानताएँ एवं विषमताएँ

(क) समानताएँ

1. दोनों श्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. दोनों में प्रायः सभी शब्द धातुज है। रूढ शब्दों की संख्या कम है।
3. पद-निर्माण की विधि प्रायः एक ही है। सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित आदि प्रत्यय समान हैं।
4. धातुओं का गणों में विभाजन, णिच्, सन् आदि प्रत्यय समान है।
5. समास-विधि दोनों में है।
6. धातुओं और शब्दों के अर्थ प्रायः एक ही है।
7. दोनों में 3 लिंग, 3 वचन, 3 पुरुष है।
8. वाक्य-रचना शब्दों से नहीं, अपितु पदों से ही होती हैं
9. दोनों में वाक्य में पद-क्रम (शब्दों का स्थान) निश्चित नहीं है।
10. दोनों में संधि-कार्य होते हैं। दोनों में कारक एवं विभक्तियाँ हैं।

(ख) विषमताएँ

वैदिक संस्कृत

1. ध्वनियों में ळ, ळ्ह, जिहनामूलीय उपध्मानीय हैं।
2. लृ स्वर का प्रयोग था।
3. उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग था।
4. स्वर-प्रयोग संगीतात्मक था।
5. ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत स्वर थे।
6. शब्दरूपों में बहुत विविधता थी।
7. धातुरूपों में बहुत विविधता थी।
8. लकारों में लेट् लकार था।

लौकिक संस्कृत

1. ये ध्वनियाँ नहीं रहीं।
2. लृ स्वर लुप्तप्राय है।
3. इनका प्रयोग नहीं रहा।
4. स्वर-प्रयोग बलाघात्मक है।
5. प्लुत प्रायः लुप्त हो गया।
6. विविधता बहुत कम हो गई।
7. विविधता प्रायः समाप्त हो गई।
8. यह संस्कृत में नहीं रहा।

9. परस्मै० आत्मने-पदों में परिवर्तन होता था। 9. पद-परिवर्तन निर्धारित नियमानुसार ही होता है।

10. पुरुष, वचन, विकरण, लकार आदि में परिवर्तन होता था। 10. ये परिवर्तन प्रायः निषिद्ध हो गए।

11. लङ्, लुङ्, आदि में अट् का आगम अनिवार्य नहीं था। 11. अट् का आगम इन लकारों में आवश्यक है।

12. संधि-नियम ऐच्छिक थे। 12. संधि-नियम आवश्यक हैं।

13. उपसर्ग स्वतन्त्र भी थे। 13. उपसर्ग स्वतंत्र नहीं रहे।

14. ईम्, सीम्, वै आदि निपात थे। 14. ये निपात नहीं रहे।

15. अच्, अम्, क्षद्, जिन्व्, ध्रज् आदि धातुएँ भी थीं। 15. ये धातुएँ अप्रयुक्त हो गईं।

(ख) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं को तीन भागों में बांटा जाता है:-

1. प्राचीन प्राकृत या पालि (500 ई. पू. से 100 ई. तक)
2. मध्यकालीन प्राकृत (100 ई. से 500 ई. तक)।
3. परकालीन प्राकृत या अपभ्रंश (500 ई. से 1000 तक)।

1. प्राचीन प्राकृत या पालि (प्रथम प्राकृत)

प्राचीन प्राकृत में इनका समावेश है:-तृतीय शताब्दी ई० पू. से प्रथमशती ई. तक के शिलालेख, पालि बौद्धग्रन्थ-महावंश, जातक आदि प्राचीन जैन सूत्रों की भाषा, प्रारम्भिक नाटकोंकी भाषा, जैसे-अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत, जिसके अवशेष मध्य एशिया में पाए गए हैं। इसको 'प्रथम प्राकृत' भी कहते हैं।

प्राकृत का अर्थ-प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर तीन मत प्रस्तुत किए गए हैं-

(क) प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से- प्राकृत भाषा के सभी प्राचीन वैयाकरणों ने प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से मानी है। संस्कृत भाषा को ही आधार मानकर उन्होंने ध्वनि-भेद आदि का विवरण दिया है। 'प्रकृति' का अर्थ है-मूलभाषा संस्कृत, उससे उत्पन्न भाषा प्राकृत है। हेमचन्द्र आदि का यही विचार है-

1. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। (हेमचन्द्र)

2. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते। (प्राकृत-सर्वस्व)
3. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्। (प्राकृत-चन्द्रिका)
4. प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता। (षड्भाषाचन्द्रिका)
5. प्राकृतस्य तु स्वमेव संस्कृतं योनिः। (प्राकृत-संजीवनी)

(ख) प्राकृत प्राचीन जनभाषा है- प्राकृत प्राचीन प्रचलित जनभाषा है। 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्'। प्राकृत का ही परिष्कृत रूप संस्कृत भाषा है अर्थात् प्राकृत से संस्कृत निकली है। पाश्चात्य विद्वान् इस मत के प्रतिपादक है।

(ग) प्राकृत और संस्कृत की स्वतन्त्र परम्परा- कतिपय विद्वानों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि न संस्कृत प्राकृत से निकली है और न प्राकृत संस्कृत से। दोनों भाषाओं की स्वतन्त्र परम्पराएँ हैं।

समीक्षा-विचार करने से ज्ञात होता है कि वस्तुतः संस्कृत का ही विकृत रूप प्राकृत है। इस विषय में भ्रम और विवाद का कारण 'संस्कृत' शब्द है। विद्वानों ने 'संस्कृत' शब्द से अभिप्राय लिया है-पाणिनि आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत भाषा। यहां पर विद्वानों ने विचार व्यक्त किया है कि पाणिनि आदि द्वारा परिष्कृत संस्कृत भाषा रूढ़ और नियम-निगडित हो गई, अतः इसमें कोई परिवर्तन-परिवर्धन संभव नहीं था। इसीलिए यह जनभाषा भी नहीं रही, इससे किसी भाषा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यहां विद्वान् यह भूल जाते हैं कि ईसा-पूर्व तक संस्कृत जनभाषा और लोक-व्यवहार की भाषा थी। इसके दो रूप थे-1. साहित्यिक, 2. जनभाषा। साहित्यिक भाषा में परिवर्तन बहुत कम होते थे, परन्तु जनभाषा वाली संस्कृत स्वाभाविक रूप से प्रचलित रही। इसमें ध्वनि-भेद, शब्द-भेद आदि प्रचुर मात्रा में चलते रहे। महाभाष्यकार पतंजलि के कथन से भी यह स्पष्ट होता है-'यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः' (महाभाष्य, आ. 1)। यद् वा नः, तद् वा नः 'हमें इससे या उससे क्या) के स्थान पर यर्वाणः-तर्वाणः बोलने के कारण इन ऋषियों का नाम ही यर्वाण-तर्वाण हो गया। यज्ञादि में ऐसा अशुद्ध प्रयोग नहीं करते थे। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत का बोलचाल का भी रूप प्रचलित था। जनभाषा में परिनिष्ठता नहीं थी। यही संस्कृत भाषा विकसित होते हुए प्राकृतों के रूप में प्रसिद्ध हुई। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि भाषा में 90 प्रतिशत नए शब्द विद्वानों द्वारा सर्वप्रथम निर्मित या प्रयुक्त होते हैं, इनको जनभाषा में अपनाया जाता है। 5 या 10 प्रतिशत देशज शब्द होते हैं। इनको साहित्यिक भाषा में परिष्कृत करके समाविष्ट किया जाता है। इस प्रकार संस्कृत शब्दों का विकृतीकरण या सरलीकरण और विकृत शब्दों का संस्कृतीकरण निरन्तर चलता रहता है।

संस्कृत से केवल पाणिनि-संमत भाषा ही नहीं सम>ना चाहिए। जन-व्यवहृत भाषा का साहित्यिक रूप 'संस्कृत' कहा गया और बोलचाल की संस्कृत का नाम 'प्राकृत' रहा। इसी आधार पर

प्राकृत के सभी वैयाकरणों ने संस्कृत को आधार मानकर ध्वनि-परिवर्तन आदि समझाए हैं।

नाट्यकार भरत मुनि (चतुर्थ शती ई. पू.) ने भी यही मत प्रतिपादित किया है कि संस्कृत भाषा के शब्दों का ही विकृत एवं परिवर्तित रूप प्राकृत भाषा है।

एतदेव विपर्यस्तं संस्कार-गुण-वर्जितम्।

विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानाऽवस्थाऽन्तरात्कम्॥

नाट्यशास्त्र (भाषाविधानाध्याय) 17-2

पालि की व्युत्पत्ति-

‘पालि’ शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं। प्रमुख मत ये हैं :-

1. आचार्य वृद्धघोष (चतुर्थ शती ई.) और आचार्य धम्मपाल (छठी शती ई.) ने ‘पालि’ शब्द का प्रयोग बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के लिए किया है। उससे यह शब्द ‘पालि’ भाषा के लिए आया।
2. आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य ने ‘पंक्ति’ से पालि की उत्पत्ति इस प्रकार बताई है-पंक्ति > पंति > पत्ति > पल्लि > पालि।
3. भिक्षु सिद्धार्थ ने ‘पाठ’ से पालि की उत्पत्ति मानी है। पाठ > पाळ > पाळि > पालि।
4. भिक्षु जगदीश काश्यप ने परियाय (=बुद्धोपदेश) शब्द से पालि की उत्पत्ति मानी है। परियाय > पलियाय > पालियाय > पालि।
5. डॉ. मैक्स वेलेसन (जर्मन विद्वान्) ने पाटलि (पाटलिपुत्र) से पालि की उत्पत्ति मानी है। पाटलि > पाडलि > पालि।
6. पल्लि (गाँव) शब्द से पालि। पल्लि > पालि।
7. प्राकृत शब्द से ‘पालि’। प्राकृत > प्राकृत > पाकट > पाअड > पाअल > पालि।
8. अभिधानप्पदीपिका (पालिभाषा-कोशग्रन्थ) ने पा धातु से पालि शब्द माना है। पा-पालेति रक्खतीति पालि, जो रक्षा करती है, या पालन करती है।
9. अमरकोश के टीकाकार भानुजी दीक्षित ने ‘पाल रक्षण’ से पालि शब्द माना है। पाल् +इ = पालि।

उक्त मतों की समीक्षा से ज्ञात होता है कि इनमें से कुछ मत केवल बौद्धिक व्यायाम हैं। जैसे-पंक्ति, पाठ, प्राकृत, पाटलि आदि। आचार्य बुद्धघोष और आचार्य धम्मपाल के उल्लेखों से सिद्ध है कि बुद्धवचन या बुद्धोपदेश के लिए ‘पालि’ शब्द चतुर्थ शती ई. में प्रचलित था। पल्लि शब्द से ‘पालि’

सरलता से बन सकता है, परन्तु इसका पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। भिक्षु जगदीश काश्यप का मत अधिक लोकप्रिय है। परियाय (सं. पर्या) का बुद्धोपदेश अर्थ में भब्रु शिलालेख में प्रयोग है- धम्मपलियायानि। परियाय > पलियाय > पालि शब्द बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के लिए प्रयुक्त होने लगा।

पालि की प्रमुख विशेषताएँ

1. पालि में वैदिक संस्कृत (वै सं.) की 5 स्वर-ध्वनियाँ लुप्त होगई-ऋ, ॠ, लृ, ए, औ।
2. पालि में वै. सं. के 5 व्यंजन लुप्त हो गए-श, ष, विसर्ग (:) जिहनामूलीय, उपध्मानीय।
3. पालि में दो नए स्वर आ गए-ह्रस्व ँ, ह्रस्व औं।
4. पालि में वै. सं. के दो व्यंजन ळ, ळ्ह भी मिलते हैं।
5. पालि में संस्कृत के ऐ > ए, औ > ओ हो गए हैं।
6. पालि में संयुक्त वर्ण से पूर्ववर्ती दीर्घ को ह्रस्व हो जाता है, यदि दीर्घ स्वर रहेगा तो संयुक्त व्यंजन में से एक कालोप हो जाएगा। जीर्ण > जिण्ण, दीर्घ > दीघ।
7. पालि में तद्भव शब्द अधिक हैं। तत्सम और देशज शब्द कम हैं।
8. ड, ढ की ळ, ळ्ह। बडवा > बळवा।
9. संधियों में केवल तीन संधियाँ हैं-(1) स्वरसंधि, (2) व्यंजनसंधि, (3) निग्गहीत (अनुस्वार) संधि। विसर्गसंधि आदि नहीं हैं।
10. पालि में हलन्त शब्द नहीं हैं। केवल अजन्त ही हैं। हलन्त शब्दों को अकारान्त बना देते हैं या अन्तिम व्यंजन कालोप कर देते हैं। धनवत् > धनवन्त, आत्मन् > अत्त।
11. पालि में द्विवचन नहीं होता है।
12. पालि में तीनों लिंग हैं।
13. शब्दरूपों में चतुर्थी और षष्ठी के रूप समान होते हैं।
14. स्त्री-प्रत्यय सात हैं-आ, ई, इनी, नी, आनी, ऊ, ति। अजा, कुमारी, यक्खिनी, दण्डिनी, मातुलानी, वामोरू, युवति।
15. पालि में 500 से अधिक धातुएँ हैं। 9 गण हैं। अदादि और जुहोत्यादि नहीं हैं। क्र्यादि के दो भेद हैं- ना, णा वाले।

16. पालि में लेट् लकार वाले भी रूप मिलते हैं-हनासि, दहासि।
17. पालि में णिच्, सन्, यङ्, नामधातु प्रत्यय वाले रूप मिलते हैं।
18. पालि में वै. सं. के तुल्य तुम् अर्थ वाले अनेक प्रत्यय मिलते हैं-तुम्, तवे, तये, तुये। जि>जिनितुम्, हा>पहातवे, गण्-गणेतुये।
19. आत्मनेपद का प्रयोग प्रायः लुप्त हो गया। परस्मैपद शेष रहा।
20. पालि में टर्नर आदि के अनुसार दोनों प्रकार का स्वराघात था-संगीतात्मक और बलाघात्मक।

शिलालेखी प्राकृत

प्राचीन काल में अशोक के शिलालेखों की प्राकृत भी आती है, अतः इसे 'शिलालेखी प्राकृत' कहते हैं। इसको ही अशोकन प्राकृत लाट प्राकृत भी कहते हैं।

प्रमुख विशेषताएँ

1. ध्वनियाँ पालि के तुल्य हैं। पालि में केवल 'स' है, किन्तु शहबाजगढी और मानसेरा शिलालेखों में श ष स तीनों मिलते हैं।
2. तीन लिंग हैं। द्विवचन नहीं है।
3. शिलालेखी प्राकृत में दीर्घीकरण, ह्रस्वीकरण, स्वरभक्ति, वर्णलोप, गुण-परिवर्तन, व्यंजन-परिवर्तन, सरलीकरण आदि प्रकार मिलते हैं।
4. हलन्त शब्द प्रायः अकारान्त हो गए हैं। कुछ प्राचीन हलन्त शब्द रूप शेष हैं। मातरि, पितरि, लाजिना, राजो आदि।
5. क्रियारूप प्रायः पालि के तुल्य हैं। आत्मनेपद नहीं है। कर्मवाच्य, णिच्, सन्, तुम्, त्वा, शतृ आदि प्रत्यय हैं।

2. मध्यकालीन प्राकृत (द्वितीय प्राकृत)

इसको 'साहित्यिक प्राकृत' भी कहते हैं। इस काल में प्राकृत का विकसित साहित्यिक रूप प्राप्त होता है। इस काल में प्राकृत के प्रान्तीय या भौगोलिक भेद भी हो गए। विभिन्न क्षेत्रों में इसके स्वतन्त्र रूप प्रयुक्त होने लगे। इस समय विस्तृत साहित्य भी लिखा गया।

मुख्य और गौण प्राकृत भाषाएँ-प्राकृत भाषाओं के विषय में सर्वप्रथम भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में विचार किया है। उनके मतानुसार 7 मुख्य प्राकृत हैं और 7 गौण (विभाषा)। मुख्य प्राकृत हैं-मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, सूरसेनी (शौरसेनी), अर्धमागधी, बाह्लीक, दाक्षिणात्य (महाराष्ट्री)। गौण 7 प्राकृतों के नाम हैं-

शाबरी, आभीरी, चाण्डाली, सचरी, द्राविडी, उद्रजा, वनेचरी।

मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी।

बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः॥

शबराभीर-चाण्डाल-सचर-द्रविडोद्रजाः।

हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः॥

नाट्यशास्त्र 17-48, 49

प्राकृत-व्याकरण के सबसे प्राचीन वैयाकरण वररुचि ने चार प्राकृत मानी हैं-शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची। मागधी के दो रूप हो गए हैं-मागधी और अर्धमागधी। इस प्रकार ये पाँच प्राकृत हैं। प्राकृत के अन्य भेदों और उपभेदों का विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं होता है। मुख्य प्राकृतों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(क) शौरसेनी

इसका क्षेत्र शूरसेन (मथुरा के आस-पास) का प्रदेश था। इसका विकास पालि-कालीन स्थानीय भाषा से हुआ। यह मध्यदेश की भाषा थी। नाटकों में सर्वाधिक प्रयोग इसी का हुआ है। स्त्रियों आदि का वार्तालाप शौरसेनी प्राकृत में ही होता था। केवल पद्य के लिए महाराष्ट्री थी। शौरसेनी से ही वर्तमान हिन्दी का विकास हुआ है। राजशेखर-कृत कर्पूरमंजरी का समस्त गद्य-भाग शौरसेनी प्राकृत में है। भास, कालिदास आदि के नाटकों में गद्य शौरसेनी में ही है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। यह निम्न एवं मध्यम कोटि के पात्रों तथा स्त्रियों की भाषा थी। इसमें सरलता, सरसता,

श्रवण-सुखदाता अधिक थी, अतः अधिक लोकप्रिय हुई।

प्रमुख विशेषताएँ

1. प्रथमा एक. में कारक चिह्न ओ। पुत्राः > पुत्तो।
2. न को ण हो जाता है। नाथ > णाथ, भगिनी > बहिणी।
3. मध्यगत प को व होता है। दीप > दीव, अपि > अवि।
4. क्ष को क्ख, ध्य को >। इक्षु > इक्खु, मध्य > मज्झ।
5. आत्मनेद प्रायः समाप्त हो गया है, परस्मैपद ही है।
6. लिट्, लङ्, लुङ्, विधिलिङ् प्रायः समाप्त हो गए।
7. द्विवचन का अभाव हो गया।

(ख) महाराष्ट्री (माहाराष्ट्री)

यह शुद्ध शब्द माहाराष्ट्री है। इसका मूलस्थान महाराष्ट्र है। इससे ही मराठी भाषा का विकास हुआ है। प्राकृतों में सबसे अधिक साहित्य महाराष्ट्री में है। संस्कृत नाटकों में प्राकृत में पद्यरचना महाराष्ट्री में ही है। महाराष्ट्री प्राकृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं-राजा हाल-कृत, 'गाहा सत्तसई' (गाथा-सप्तशती), प्रवरसेन-कृत 'रावणवहो' (सेतुबन्धः), वाक्पति-कृत 'गउडवहो' (गौडवधः), जयवल्लभ-कृत 'वज्जालग' हेमचन्द्राचार्य-कृत 'कुमारपालचरित'। ये सभी काव्यग्रन्थ हैं। कर्पूरमंजरी के पद्य महाराष्ट्री में है। भरत मुनि ने दाक्षिणात्य प्राकृत से महाराष्ट्री का ही निर्देश किया है। दण्डी ने काव्यादर्श में महाराष्ट्री को सर्वश्रेष्ठ माना है। महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः-काव्यादर्श 1-34। अवन्ती और बाह्लीक प्राकृत महाराष्ट्री में ही अन्तर्भूत हैं।

प्रमुख विशेषताएँ

1. स्वर-बाहुल्य। मध्यगत व्यंजनों के लोप से स्वरों की प्रधानता। अतएव संगीतात्मकता।
2. कर्मवाच्य य को इज्ज। पृच्छद्यते > पुच्छिज्जइ।
3. त्वा कोऊण। पृष्टवा > पुच्छिऊण।
4. तुम् को उं और क्त (त) को आ। कर्तुम् > काउं, गृहीत > गहिआ।
5. अनीय को अणिज्ज। करणीय > करणिज्ज।

(ग) मागधी

यह मगध की भाषा थी। इसका साहित्य बहुत कम मिलता है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। कालिदास के नाटकों में तथा शूद्रक के मृच्छकटिक में मागधी का प्रयोग मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र (अ. 17, श्लोक 50, 56) के अनुसार वह अन्तःपुर के नौकर, अश्वपालक आदि की भाषा थी। मार्कण्डेय के अनुसार भिक्षु, क्षपणक, राक्षस, चेट आदि मागधी बोलते थे। लंका में पालि को 'मागधी' कहते हैं, क्योंकि पालि मगध से वहाँ गई थी। इसके तीन प्रकार मिलते हैं-शाकारी, चाण्डाली, शाबरी। मागधी से ही भोजपुरी, मैथिली, बंगला, उड़िया, असमी विकसित हुई है।

प्रमुख विशेषताएँ

1. ष, स् को श। पुत्तस्स > पुत्तश्श, भविष्यति > भविश्शदि।
2. र को ला। पुरुषः > पुलिशे, राज्ञः > लाआणो।
3. छ, र्ज, र्य को य्य होता है। अद्य और आर्य > अय्य, मद्य > मय्य।

4. मध्यगत च्छ को श्र होता है। गच्छति > गश्चदि।
5. र्थ और स्थ को स्त होता है। अर्थः > अस्ते, उपस्थित > उवस्तिद।
6. ष्क को स्क, ष्ट को स्ट होता है। शुष्क > शुस्क, कष्ट > कस्ट।
7. प्रथमा एक. में विसर्ग को ए होता है। देवः > देवे, एषः > एशे।

(घ) अर्धमागधी

अर्धमागधी का क्षेत्र मागधी और शौरसेनी के मध्य में है। यह प्राचीन कोसल के समीपवर्ती क्षेत्र की भाषा थी। इसमें मागधी के गुण अधिक हैं। साथ ही शौरसेनी के गुण भी हैं, अतः इसे अर्धमागधी कहा जाता है। इसको ऋषिभाषा या आर्यभाषा भी कहते हैं। भगवान् महावीर के सारे धर्मोपदेश इसी भाषा में हैं। इसमें प्रचुर मात्रा में जैन-साहित्य मिलता है। अतः इसका विशेष महत्त्व है। इसमें गद्य और पद्य दोनों प्रकार का साहित्य है। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इसे चेट, राजपुत्र एवं सेठों की भाषा बताया है। (चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठिनां चार्धमागधी, सा० द. 6-160)। इसका प्राचीनतम प्रयोग अवश्वघोष के नाटकों में मिलता है। मुद्राराक्षस और प्रबोधचन्द्रोदय में अर्धमागधी का प्रयोग हुआ है। इससे पूर्वी हिन्दी का विकास हुआ है।

प्रमुख विशेषताएँ

1. दन्त्य को मूर्धन्य होता है। स्थित > ठिया।
2. श, ष को स होता है। श्रावक > सावग।
3. य को ज हो जाता है। यौवन > जोव्वण।
4. संयुक्त व्यंजनों में प्रायः स्वरभक्ति के द्वारा विच्छेद होता है। कृष्ण > कसिन, स्नान > सिनान।
5. संधि-स्थलों पर म् लग जाता है। अन्योन्यम् > अन्नमन्नम्, अण्णमण्णम्।
6. स्पर्श का लोप होने पर 'य्' श्रुति। सागर > सायर।
7. संधि-स्थलों पर स्वरभक्ति का प्रयोग होता है। द्यहेन > दुयाहेण, स्वाख्यात > सुयक्खाय।
8. गद्य और पद्य में भेद है। गद्य में मागधी के तुल्य प्र. एकवचन में 'ए' और पद्य में शौ. के तुल्य 'ओ' है।

(ङ) पैशाची

पैशाची का क्षेत्र पश्चिमोत्तर भारत एवं अफगानिस्तान का क्षेत्र था। पैशाची को पैशाचिकी, भूतभाषा,

भूतभाषित आदि भी कहते थे। महाभारत में कश्मीर के पास रहने वाली 'पिशाच' जाति का उल्लेख है। गुणाढ्य की अतिप्रसिद्ध रचना 'बृहत्कथा' पैशाची प्राकृत में ही थी। इस समय इसका साहित्य नगण्य है। इसका ही विकसित रूप 'लहँदा' भाषा है। हेमचन्द्र-कृत कुमारपालचरित और काव्यानुशासन में तथा हम्मीरमदमर्दन नाटक में इसका प्रयोग मिलता है। राक्षस, पिशाच, निम्नकोटि के पात्र लोहार आदि इसी का प्रयोग करते थे। ('रक्षःपिशाचनीचेषु पैशाची द्वितयं भवेत्' षड्भाषाचन्द्रिका)।

प्रमुख विशेषताएँ

1. वर्ग के तृतीय को प्रथम वर्ण होता है। नगर > नकर, तडाग > तटाक।
2. वर्ग के चतुर्थ को द्वितीय वर्ण। निर्झर > निच्छर, मेघः > मेखो।
3. पैशाची में पंचम वर्ण केवल 'न' है।
4. र-ल का विपर्यय। कभी र को ल, कभी ल को र। रुद्र > लुद्र, कुमार > कुमाल, रुधिरं > लुधिरं।
5. स्वरभक्ति (मध्य में अ, इ, उ)। कष्टं > कसटं, स्नानं > सिनानं, भार्या > भारिया।
6. ष को श या स। तिष्ठति > चिश्तदि, विषमः > विसमो।
7. मध्यगत व्यंजनों का लोप नहीं होता। मधुरं > मथुरं, गाढं > काठं।

प्राकृत-भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ

1. प्राकृत भी संस्कृत के तुल्य श्लिष्ट योगात्मक भाषा है।
2. संस्कृत व्याकरण को सरल बनाया गया है।
3. शब्दरूपों और धातुरूपों की संख्या कम हो गई।
4. शब्दों के रूप केवल तीन या चार प्रकार के ही रह गए।
5. धातुरूप भी प्रायः एक या दो प्रकार से चलने लगे।
6. अस्पष्टता के निवारणार्थ परसर्गों (कारक-चिह्नों) की सृष्टि हुई।
7. भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मक की ओर अग्रसर हुई।
8. शब्दरूप प्रायः अकारान्त के तुल्य चलने लगे और धातुरूप प्रायः भ्वादिगण के तुल्य हो गए।
9. चतुर्थी विभक्ति का अभाव हो गया। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन प्रायः एक हो गए।
10. लङ्, लिट् और लुङ् लकारों का अभाव हो गया।

11. द्विवचन का अभाव हो गया।
12. आत्मनेपद का भी अभाव हो गया।
13. ध्वनि-परिवर्तन मुख्य रूप से हुआ। संयुक्ताक्षरों में प्रायः पर-सवर्ण या पूर्व-सवर्ण हुआ।
14. कुछ प्राचीन ध्वनियों का अभाव हो गया। स्वरों में-ऋ, ॠ, लृ, ऐ, औ। व्यंजनों में य, श, ष, विसर्ग। मागधी में य, श हैं, स नहीं।
15. संस्कृत में अप्राप्त दो नए स्वर आ गए-ह्रस्व एँ और ओँ
16. साधारणतया शब्द के अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है।
17. ह्रस्व स्वर के बाद दो से अधिक और दीर्घ स्वर के बाद एक से अधिक व्यंजन नहीं रहते।
18. स्वर-संबंधी मुख्य परिवर्तन ये हुएः-(क) ऋ को अ, इ या उ हो गया। (ख) ऐ को ए, औ को ओ। (ग) मध्यगत व्यंजन का लोप होने पर पूर्ववर्ती ह्रस्व को दीर्घ स्वर। (घ) अनुदात्त स्वर का लोप। (ङ) संप्रसाण होकर य् को इ, व् को उ।
19. मध्यगत वर्णों में मुख्य अन्तर ये होते हैंः-(क) मध्यगत क त प का लोप होता है या उन्हें ग द ब होते हैं। (ख) मध्यगत य का सदा लोप होता है। (ग) मध्यगत महाप्राण वर्णों (ख, घ, थ, ध आदि) को ह हो जाता है। (घ) मध्यगत ट को ड और ठ को ढ होता है। (ङ) प को व होता है। (च) 11 से 18 संख्याओं में द को र होता है। (छ) श ष स को स, मागधी में श।
20. संयुक्ताक्षरों में मुख्य परिवर्तन ये होते हैंः-(क) दो स्पर्श वर्णों में परसवर्ण होता है। (ख) स्पर्श के बाद अनुनासिक को पूर्वसवर्ण होगा। (ग) ज्ञ को ण्ण। (घ) स्पर्श बाद में होने पर ल् को परसवर्ण, (ङ) क्ष को क्ख या च्छ। (च) त्य > च्च, ध्य > झ। (छ) र् को स्पर्श का सवर्ण।
21. प्रथमा एकवचन विसर्ग (:) मागधी में 'ए' होता है, अन्यत्र 'ओ'।
22. धातुओं के अर्थों में काफी अन्तर हुआ है।
23. संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलाघातात्मक स्वर हो गए हैं।
24. तद्भव शब्दों की संख्या अधिक है, तत्सम कम।

3. अपभ्रंश (परकालीन प्राकृत, तृतीय प्राकृत)

‘अपभ्रंश’ शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य व्याडि (पतंजलि से पूर्ववर्ती) और पतंजलि (150 ई. पू.) ने

किया है। तत्पश्चात् भर्तृहरि, भामह, दण्डी आदि ने अपभ्रंश के सबसे प्राचीन उदाहरण भरतमुनि (400 ई. पू.) के नाट्यशास्त्र में मिलते हैं। कालिदास के विक्रमोर्वशीय (अंक 4) में अपभ्रंश के कुछ पद्य मिलते हैं। दण्डी (7वीं शती ई.) के समय से इसका प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। अपभ्रंश में विशाल साहित्य है। इसमें प्रमुख रचनाएँ हैं-रविषेणाचार्य-कृत पउमचरिउ, पुष्पदन्त-कृत महापुराण और जसहर-चरिउ (यशोधर-चरित), विद्यापति-कृत 'कीर्तिलता', अद्दहमाण (अब्दुर् रहमान)-कृत 'सन्देश-रासक'। अपभ्रंश को देशभाषा, देसी, अपभ्रष्ट, अवहट्ट भी कहते थे।

मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व में तीन अपभ्रंश माने हैं-नागर, उपनागर, ब्राचड। नागर गुजरात की अपभ्रंश, ब्राचड सिन्ध की, उपनागर दोनों के मध्य की मानी है। स्पष्टतया यह पश्चिमी प्राकृतों का ही विभाजन है। सामान्तया विद्वानों का मत है कि प्राचीन पाँच प्राकृतों से पाँच अपभ्रंशों का विकास हुआ। इनसे ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ विकसित हुई। प्राचीन प्राकृत और वर्तमान भारतीय भाषाओं को मिलाने वाली कड़ी वस्तुतः अपभ्रंश भाषाएँ हैं।

अपभ्रंश की प्रमुख विशेषताएँ

1. भाषा श्लिष्ट योगात्मक से वियोगात्मक होने लगी।
2. प्राकृत में प्रयुक्त ध्वनियाँ ही अपभ्रंश में भी थीं।
3. वैदिक संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलाघात स्वर हो गया।
4. सभी स्वरों का अनुनासिक रूप (ऋ को छोड़कर) अपभ्रंश में भी है।
5. अपभ्रंश में शब्दों के अन्त में उ लगाने की प्रवृत्ति बढ़ गई। अंगु, जगु, पुत्तु।
6. दन्त्य व्यंजन मूर्धन्य होने लगे थे।
7. श और ष का प्रायः लोप हो गया।
8. ए को इ, ई भी होते हैं। लेख > लिह, लीह।
9. मध्यगत प्रथम और द्वितीय वर्ण को क्रमशः तृतीय और चतुर्थ वर्ण होते हैं। शपथ > सबध, कथितं > कधिदुं।
10. कहीं-कहीं मध्यगत म को वँ। भ्रमर > भवँरु।
11. संयक्ताक्षरों में र् का प्रायः लोप होता है। प्रिय > पिउ, चन्द्र > चन्द्र।

12. जहां र नहीं है, वहां भी र का आगम। व्याकरण > ब्रागरण।
13. प्राकृत के तुल्य समीकरण, लोप, आगम आदि की प्रवृत्ति और बढ़ गई।
14. संयुक्त व्यंजनों में एक व्यंजन का लोप और पूर्ववर्ती ह्रस्व को दीर्घ होता है। कस्य > कासु, तस्य > तासु।
15. शब्दरूप और धातुरूप बहुत कम हो गए।
16. वाक्यों में पद-क्रम निश्चित हो गया। इससे विभक्ति-लोप-जन्य अस्पष्टता कुछ कम हो गई।
17. नपुंसक लिंग शब्द समाप्त हो गए।
18. अकारान्त पुलिंग शब्दों के तुल्य अधिकांश शब्दरूप चलने लगे।
19. शब्दरूपों में बहुत संक्षेप हो गया। सभी कारकों के स्थान पर तीन कारक-समूह रह गए-(1) कर्ता-कर्म, संबोधन, (2) करण-अधिकरण, (3) संप्रदान, अपादान, संबंध। अतः शब्दरूप में 6 रूप रह गए-3 कारक × 2 वचन। संस्कृत में 24 रूप थे, प्राकृत में 12।
20. द्विवचन का पूर्णतया अभाव है।
21. धातुरूपों में आत्मेनपद का अभाव है।
22. धातुरूपों में प्रायः लट्, लोट्, लृट् ही शेष रहे।
23. स्वार्थ में ये तद्धित प्रत्यय होने लगे-(1) उ, पुनः > पुणु, (2) एं या अ, अवश्यं > अवसें, अवस, (3) आर, तुहार, अम्हार।
24. द्राविड एवं विदेशी भाषाओं के बहुत शब्द आ गए।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ (आ. भा. आ.)

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास मध्यकालीन अपभ्रंश भाषाओं से हुआ है। प्राचीन पाँच प्राकृतों से पाँच अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ है। इन पाँच अपभ्रंशों के साथ ही ब्राचड एवं खस दो अपभ्रंशों को और लिया जाता है। ब्राचड (सं. ब्राचड या ब्राचट) का उल्लेख मार्कण्डेय के प्राकृत सर्वस्व में अपभ्रंश के 27 भेदों में मिलता है। खस (खश) उत्तरी पहाड़ी भाग की भाषा थी। उसको भी अपभ्रंश में लिया है। इस प्रकार सात अपभ्रंशों से आधुनिक भाषाओं का विकास माना जाता है।

अपभ्रंश**विकसित आधुनिक भाषाएँ**

- | | |
|----------------|--|
| 1. शौरसेनी | (क) पश्चिमी हिन्दी, (ख) राजस्थानी, (ग) गुजराती |
| 2. महाराष्ट्री | मराठी |
| 3. मागधी | (क) बिहारी, (ख) बंगाली, (ग) उड़िया, (घ) असमी। |
| 4. अर्धमागधी | पूर्वी हिन्दी |
| 5. पैशाची | लहँदा |
| 6. ब्राचड | (क) सिन्धी, (ख) पंजाबी। |
| 7. खस | पहाड़ी |

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की प्रमुख विशेषताएँ

1. आ. भा. आ. संयोगात्मक पूर्णतया वियोगात्मक हो गई।
2. प्राकृत और अपभ्रंश में विद्यमान ध्वनियाँ प्रचलित रहीं।
3. आ. भा. आ. में अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि के हजारों शब्द आ गए हैं। तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है।
4. बलाघात स्वर मुख्य हो गया है। वाक्यों में संगीतात्मक स्वर भी है।
5. अन्तिम दीर्घ स्वर पर बलाघात न होने पर दीर्घ को ह्रस्व स्वर।
6. बलाघात-रहित अन्तिम अ का लोप होता है। राम्, नाम्।
7. बलाघात के अभाव में आद्य स्वरों का लोप हो जाता है। अभ्यन्तर > भीतर, उपरि > पर।
8. संयुक्त व्यंजनों में से एक का लोप हो जाता है और क्षतिपूत्र्यर्थ पूर्व ह्रस्व स्वर को दीर्घ। सप्त > सात, अद्य > आज।
9. शब्दों के रूप और कम हो गए। अपभ्रंश में 6 थे, आ. भा. आ. में केवल दो रूप रह गए-1. मूल रूप, 2. विकृतरूप।
10. आ. भा. आ. में केवल गुजराती, मराठी में तीन लिंग हैं, शेष में दो लिंग हैं-पु., स्त्री.। दो वचन रह गए हैं-एक., बहु.।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय

1. पश्चिमी हिन्दी

इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसकी पाँच प्रमुख बोलियाँ हैं-खड़ी बोली, ब्रजभाषा, बाँगरू, कन्नौजा और बुन्देली।

(क) **खड़ी बोली-** यह उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों-मेरठ, सहारनपुर, मुजफ्फर नगर, देहरादून, बिजनौर, रामपुर आदि की भाषा है। अम्बाला और पटियाला के पूर्वी भाग भी इसी क्षेत्र में आते हैं। यह आजकल 'राजभाषा' है। इसके दो साहित्यिक रूप हैं-हिन्दी और उर्दू। हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है और उर्दू में अरबी-फारसी शब्दों की। हिन्दी की लिपि देवनागरी है और उर्दू की फारसी। कुछ विद्वान् उर्दू को हिन्दी की एक शैली मात्रा मानते हैं। राष्ट्रीय भावना की जागृति के कारण इसका प्रचार-प्रसार बहुत बढ़ा है। इस समय हिन्दी में उच्चकोटि का साहित्य बड़ी मात्रा में लिखा जा रहा है।

(ख)**ब्रजभाषा-** यह मथुरा, आगरा, अलीगढ़, धौलपुर की भाषा है। इसके पश्चिमोत्तर भाग में राजस्थानी का और दक्षिणी भाग में बुन्देली का प्रभाव देखा जाता है। इसमें उच्चकोटि का साहित्य विद्यमान है। इसके प्रमुख साहित्यकार हैं-सूर, नन्ददास, मीरा, केशव, बिहारी, देव, भूषण, घनानन्द, रसखान, रहीम आदि। यह सरलता, सरसता एवं कोमलता के लिए विख्यात है।

(ग)**बाँगरू-**यह दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, जींद और नाभा की बोली है। इसके अन्य नाम हैं-हरियाणी, देसाड़ी, जाटू। इस पर राजस्थानी और पंजाबी का भी प्रभाव दिखाई देता है। यह वस्तुतः खड़ी बोली की एक विभाषा है।

(घ)**कन्नौजी-** अवधी और ब्रज के मध्य इसका क्षेत्र है। इटावा, फर्रुखाबाद, कानपुर, शाहजहाँपुर, हर्दोई, पीलीभीत आदि जिलों में यह बोली जाती है। कन्नौजी क्षेत्र के कवि हं-चिन्तामणि, मतिराम, भूषण आदि। यह ब्रजभाषा की विभाषा है।

(ङ)**बुन्देली-** यह झांसी, जालौन, हमीरपुर, बांदा, ग्वालियर, ओरछा, सागर, दमोह, नरसिंहपुर आदि की बोली है। मिश्रित रूप में यह पन्ना, दतिया आदि के क्षेत्रों में भी बोली जाती है। वह भी ब्रजभाषा की एक विभाषा है। इसका साहित्य नगण्य है।

2. राजस्थानी

इसका विकास शौरसेनी के नागर अपभ्रंश से हुआ है। इसका प्रमुख क्षेत्र राजस्थान है। पिंगल के अनुकरण

पर राजस्थानी में 'डिंगल' काव्य की रचना हुई है। इसकी लिपि नागरी और महाजनी है। इसकी चार प्रमुख बोलियाँ हैं-मारवाड़ी, जयपुरी, मालवी और मेवाती।

(क) मारवाड़ी- यह पश्चिमी राजस्थान की बोली है। इसका क्षेत्र है-जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि। पुरानी मारवाड़ी को डिंगल कहते हैं।

(ख) जयपुरी- यह राजस्थान के पूर्वी भाग में बोली जाती है। इसका क्षेत्र है-जयपुर, कोटा, बूंदी।

(ग) मालवी- यह राजस्थान के दक्षिण-पूर्वी भाग की भाषा है। इसका केन्द्र इन्दौर है।

(घ) मेवात- यह अलवर और हरियाणा में गुडगाँव जिले के कुछ भागों में बोली जाती है। इस पर ब्रजभाषा का प्रभाव है।

3. गुजराती

शौरसेनी अपभ्रंश के नागर रूप से गुजराती का विकास हुआ है। यह गुजरात प्रान्त की भाषा है। इसका राजस्थानी से बहुत साम्य है। गुजरात का प्राचीन नाम 'लाट' था। यहाँ की भाषा 'लाटी' थी। संस्कृत में 'लाटी' शैली प्रसिद्ध हैं यहाँ अरब, पारसी, तुर्क आदि बड़ी संख्या में बाहर से आकर बसे हैं।

4. मराठी

यह महाराष्ट्री अपभ्रंश से निकली है। यह महाराष्ट्र की भाषा है। इसकी चार बोलियाँ मुख्य हैं-

(क) देशी- दक्षिण भाग में बोली जाती है। इसको दक्षिणी भी कहते हैं।

(ख) कोंकणी- समुद्री किनारे की बोली है।

(ग) नागपुरी- नागपुर के समीप की बोली है।

(घ) बरारी- बरार की बोली है। पूना की बोली टकसाली भाषा मानी जाती है। भाषा की दृष्टि में कन्नड़ शब्द अधिक हैं, बरारी में भीली और तेलुगु के तथा मराठी में फारसी के शब्द अधिक हैं। मराठों का साहित्य समृद्ध एवं उच्चकोटि का है। इसमें मुकुन्दराज, ज्ञानेश्वर, रामदास, तुकाराम, नामदेव आदि की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें सन्तसाहित्य का विशाल भंडार है। इसकी लिपि देवनागरी है।

5. बिहारी

यह मागधी अपभ्रंश से निकली है। वस्तुतः बिहारी कोई भाषा नहीं है। यह बिहार प्रान्त में बोली जाने वाली भाषाओं के समूह का नाम है। इसमें प्रमुख भाषाएँ हैं-भोजपुरी, मैथिली और मगही।

(क) भोजपुरी- भोजपुरी का आधार 'भोजपुर' गाँव है। यह शाहाबाद जिले में था। अब शाहाबाद जिला का नाम ही भोजपुर हो गया है। इस भाषा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसमें बिहार और उत्तर प्रदेश के कई जिले हैं। बिहार का पश्चिमी भाग और उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग इसका क्षेत्र है। इसमें प्रमुख जिले हैं-उ. प्र. के वाराणसी, गाजीपुर, बलिया, जौनपुर, मिर्जापुर, गोरखपुर, देवरिया, बस्ती, आजमगढ़ और बिहार के भोजपुर (शाहाबाद), राँची, सारन, चम्पारन आदि। इसका स्वतन्त्र साहित्य नहीं है। कबीर, धर्मदास, भीखा साहब आदि के पदों में भोजपुरी का प्रयोग हुआ है।

(ख) मैथिली- यह मिथिला क्षेत्र की भाषा है। इसका क्षेत्र है-दरभंगा, पूर्णिया, सहरसा और मुजफ्फरपुर का पूर्वी भाग इसका ही एक भेद (अंगिका) मुंगेर और भागलपुर में बोला जाता है। बिहारी भाषाओं में सबसे अधिक साहित्य मैथिली में है। इसके प्रसिद्ध कवि हैं-विद्यापति, उमापति, हर्षनाथ, लखिमा ठकुरानी, मनबोध झा, चंदा झा आदि। मैथिली में मधुर लोकगीत हैं।

(ग) मगही- यह पटना, गया, हजारीबाग एवं भागलपुर के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें उल्लेखनीय साहित्य नहीं है, कुछ लोकगीत हैं।

6. बंगाली (बंगला)

यह बंगाल प्रान्त की भाषा है। मागधी अपभ्रंश के पूर्वी रूप से इसका विकास हुआ है। इसकी साहित्यिक भाषा को 'साधु भाषा' कहते हैं। इसमें संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। बंगाली में उच्चारण-संबंधी विशेषता है। इसके लिखित और उच्चारित रूप में भेद होता है। लक्ष्मी: को लोंकखीं, परमानन्द को पोरमानन्द बोलते हैं। यह साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हैं। इसके प्रमुख साहित्यकार हैं-चंडीदास, कृत्तिदास (रामायण), विजयगुप्त (पद्मपुराण), रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमचन्द्रशरत्चन्द्र आदि। बंगला की लिपि अलग है। यह प्राचीन देवनागरी से विकसित है। बंगाली का प्रामाणिक भाषाशास्त्रीय अध्ययन डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी ने 'बंगाली का उद्भव और विकास' ग्रन्थ में किया है।

7. उड़िया

यह उड़ीसा प्रान्त की भाषा है। इसको ओड़ (उड़) जाति की भाषा से प्रभावित होने के कारण 'ओड़ी' भी कहते हैं। उत्कल जाति की भाषा होनेसे 'उत्कली' भी कही जाती है। इस पर बंगाली और तेलुगु का अधिक प्रभाव है। संस्कृत भाषा के शब्द प्रचुर मात्रा में हैं। इसमें 15वीं शती के पुरी और भुवनेश्वर के शिलालेख हैं। इसकी लिपि भिन्न है। यह प्राचीन देवनागरी से विकसित हुई है।

8. असमी

असमी, असमिया, आसामी या असामी असम प्रान्त की भाषा है। इसका बंगला से अधिक साम्य है। इसकी लिपि बंगला के सदृश है, केवल दो-तीन वर्ण भिन्न है। इस पर तिब्बती-बर्मी, नागा आदि भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है। इसके प्रसिद्ध कवि हैं-माधवकन्दली, शंकरदेव, माधवराम, सरस्वती आदि।

9. पूर्वी हिन्दी

यह अर्धमागधी अपभ्रंश से विकसित हुई है। इसकी तीन बोलियाँ हैं-अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। इनकी लिपि नगरी है।

(क)अवधी- यह लखनऊ, फैजाबाद, सीतापुर, रायबरेली, गोंडा, बहराइच आदि जिलों में बोली जाती है। कानपुर, इलाहाबाद, मिर्जापुर आदि के भी कुछ भाग अवधी की सीमा में हैं। इसमें जायसी का पद्मावत और तुलसी का रामचरितमानस अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें पर्याप्त समृद्ध साहित्य है। डॉ. बाबूराम सक्सेना ने इसका प्रामाणिक भाषाशास्त्रीय अध्ययन 'अवधी का विकास' ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।

(ख)बघेली- यह बघेलखंड की बोली है। इसका केन्द्र रीवां है।

(ग)छत्तीसगढ़ी- इसका विस्तार रायपुर, बिलासपुर के जिलों में था। इसमें केवल कुछ लोकगीत मिलते हैं।

10. लहँदा (लहँदी)

इसका विकास पैशाची अपभ्रंश से हुआ है। यह पंजाब के पश्चिमी भाग तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग की भाषा है। पश्चिमोत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में पश्तो बोली जाती है। उससे भेद के लिए इसे हिन्दकी कहते हैं। इसके अन्य नाम हैं-जटकी, मुलतानी, डिलाही, उञ्ची। लहँदा का अर्थ है-पश्चिमी। इसकी लिपि लंडा है। यह उर्दू और गुरुमुखी में भी लिखी जाती है। इसकी चार मुख्य बोलियाँ हैं-(1) केन्द्रीय बोली, (2) दक्षिणी (मुलतानी), (3) उत्तरपूर्वी (पोठवारी), (4) उत्तरपश्चिमी (धन्नी)। इसमें सिक्खों का वार्ता-साहित्य, जनसाखी और लोकगीत हैं। इसका क्षेत्र अब पाकिस्तान में चला गया है।

11. सिन्धी

यह प्राचीन सिन्ध प्रान्त की भाषा थी। भारत-पाक विभाजन के बाद इसके बोलने वाले पंजाब, दिल्ली, बम्बई आदि में बस गए हैं। इसकी पाँच बोलियाँ हैं-बिचैली, सिरैकी, लाड़ी, थरेली, कच्छी। इनमें बिचैली मुख्य है। यह साहित्यिक भाषा हो गई है। इसकी लिपि लंडा है। यह अरबी और गुरुमुखी लिपि में भी

लिखी जाती है। इसमें साहित्य नाममात्र का है। उल्लेखनीय ग्रन्थ 'शाहजी रिसालो' है। ब्राचड अपभ्रंश के तुल्य आदिम त > ट, द > ड होता है। इसमें विदेशी शब्द अधिक हैं।

12. पंजाबी

यह पंजाब प्रान्त की भाषा है। इस पर दरद भाषा का प्रभाव है। पंजाबी की एक बोली डोगरी है, जो जम्मू राज्य में बोली जाती है। पंजाबी की लिपि गुरुमुखी है। इससे सिक्खों का साहित्य विशेष रूप से लिखा जा रहा है। इसमें संस्कृत और प्राकृत के शब्द अधिक हैं।

13. पहाड़ी

खस अपभ्रंश से इसका विकास हुआ है। कुछ विद्वान् शौरसेनी से ही इसका विकास मानते हैं। यह हिमालय के निचले भाग में बोली जाती है। इसकी लिपि नागरी है। इसके तीन भाषा-वर्ग हैं-(1) पश्चिमी, (2) मध्य, (3) पूर्वी। पश्चिमी पहाड़ी की लगभग 30 बोलियाँ हैं। इनमें उत्तर प्रदेश के जोनसार-बाबर की जौनसारी तथा पश्चिमी पहाड़ी भाग शिमला आदि की शिरमौरी, चंबाली, कुलूई, क्यंथली बोलियाँ मुख्य हैं। मध्य पहाड़ी के दो भाग हैं-(1) गढ़वाल की गढ़वाली, (2) कुमायूँ की कुमायूँनी। कुमायूँनी में थोड़ा साहित्य है। इनका लोक-साहित्य संपन्न है। पूर्वी पहाड़ी में नेपाली है। इसको खसकुरा, गोरखाली, पर्वतिया भी कहते हैं। यह नेपाल की राजभाषा है। इसका साहित्य नवीन है। डा. टर्नर ने नेपाली पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'नेपाली शब्दकोश' लिखा है।

2.6. अपनी प्रगति जांचिए

1. भारत ईरानी शाखा का दूसरा क्या नाम है ?
2. भारोपीय भाषा परिवार की कितनी शाखाएँ हैं ?
3. केंतुम वर्ग की कितनी शाखाएँ हैं ?
4. शौरसेनी अपभ्रंश कौन सी आधुनिक भारतीय भाषा विकसित हुई ?
5. पालि भाषा में कितने वचन होते हैं ?

2.7. सारांश

प्रस्तुत इकाई के माध्यम से हम भारोपीय परिवार तथा इण्डो-ईरानियन शाखा के विभिन्न पक्षों से परिचित हो पाएँ हैं, तथा संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा की अवधारणा को जाना। उक्त विवेचन से स्पष्ट है की भाषाविज्ञान की आधारशिला भारोपीय परिवार द्वारा डाली गई है। इस भाषा

परिवार की भाषाओं की जितनी अधिक विवेचना एवं खोज हुई है, तथा अध्ययन किया गया है उतना अन्य किस भाषा परिवार का नहीं। भारोपीय परिवार में संसार की प्राचीनतम भाषाएँ आती हैं जिनमें विश्व की प्राचीनतम साहित्यिक निधि सुरक्षित है। विश्व का सबसे प्राचीन साहित्य संस्कृत भाषा में ऋग्वेद के रूप में उपलब्ध है। संस्कृत, ग्रीक और लैटिन जैसी भाषाएँ इसी परिवार की भाषाएँ हैं। यह परिवार विश्व के बहुत बड़े क्षेत्र पर विस्तृत है। भाषाओं के क्रमिक विकास को दिखाने वाला साहित्य इसी परिवार में पाया जाता है।

इस प्रकार विश्व की प्राचीनतम संस्कृति, साहित्यिक विकास, भाषा विकास, मानव की आदि-भूमि, ध्वनि संबंधी तथ्यों की एकता, भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आदि दृष्टिकोण से भारोपीय परिवार का अपना विशिष्ट इतिहास है। आज भी इस परिवार की भाषा बोलने वाले संसार में सबसे अधिक हैं, तथा उनका विश्व राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान है। विश्व को ज्ञान की ज्योति से आलोकित करने का श्रेय इसी भारोपीय परिवार को है। इस प्रकार भारोपीय परिवार का अत्यधिक महत्त्व है।

2.8. मुख्य शब्दावली

भारोपीय	- भारत और यूरोपीय
आर्य परिवार	- भारत-ईरानी परिवार
प्रकृति और प्रत्यय	- अर्थतत्त्व और संबंधतत्त्व
संयोगात्मक भाषा	- जिसमें संबंधतत्त्व अर्थतत्त्व के साथ जुड़ा होता है
वियोगात्मक भाषा	- जिसमें संबंधतत्त्व अर्थतत्त्व से अलग लगाया जाता है
श्लिष्ट योगात्मक भाषा	- जिसमें प्रकृति और प्रत्यय घनिष्ठता से मिले होते हैं
अंतर्मुखी श्लिष्ट भाषा	- जिसमें संबंधतत्त्व अर्थतत्त्व के बीच में घुलमिल कररम जाता है
ध्वनि-साम्य	- प्रयुक्त ध्वनियों में समानता या एकरूपता
व्याकरण-साम्य	- पद-रचना और वाक्य-रचना में समानता
आत्मनेपद	- अपने लिए पद

2.9. अपनी प्रगति जांचिए के उत्तर

1. आर्य शाखा
2. दस
3. छह

4. पश्चिमी हिंदी

5. दो

2.10. अभ्यास हेतु प्रश्न

1. भारोपीय भाषा परिवार पर एक निबंध लिखिए।
2. भारत-ईरानी शाखा के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
3. वैदिक-संस्कृत एवं लौकिक-संस्कृत की तुलना कीजिए।
4. पालि-भाषा के उद्भव एवं विकास को स्पष्ट कीजिए।
5. प्राकृत-भाषा पर एक सारगर्भित निबंध लिखिए।
6. अपभ्रंश-भाषा के उद्भव एवं विकास को स्पष्ट कीजिए।

2.11. आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. सामान्य भाषा विज्ञान- बाबूराम सक्सेना, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
2. सैद्धांतिक भाषा-विज्ञान (हिंदी अनुवाद)- जॉन लियोन्स।
3. भाषा-विज्ञान की भूमिका- देवेन्द्र नाथ शर्मा।
4. भाषा विज्ञान- भोलानाथ तिवारी।
5. आधुनिक भाषा-विज्ञान की भूमिका- मोतीलाल गुप्ता।

इकाई-3

ध्वनि एवं पद-विज्ञान

3.1. परिचय

प्रस्तुत इकाई में हम ध्वनि का स्वरूप, उच्चारण अवयव, उसके कार्य, ध्वनियों का वर्गीकरण तथा ध्वनि परिवर्तन के कारण एवं दिशाओं का विस्तृत अध्ययन करेंगे। साथ में ध्वनि नियमों का विश्लेषण करेंगे।

ध्वनि अर्थात् मानवकृत आवाज़ का वैज्ञानिक अध्ययन ही ध्वनि-विज्ञान कहलाता है। इसे 'वर्ण-विज्ञान', 'ध्वनि-विचार' आदि अन्य नामों से भी विद्वानों ने पुकारा है। संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थों में छह वेदांग माने गए हैं जिनमें एक है 'शिक्षा'। यह महत्त्वपूर्ण वेदांग है जिसमें स्पष्ट रूप से मानवीय ध्वनियों का विस्तृत विश्लेषण उपलब्ध होता है। इसी कारण शिक्षा वेदांग को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

किसी भी भाषा का सम्पूर्ण ढाँचा ध्वनियों के आधार पर खड़ा रहता है। इसी कारण ध्वनियों का भाषा में सर्वाधिक महत्त्व होता है। ध्वनियाँ ही किसी भाषा की नींव होती हैं और उनके द्वारा ही शब्दों और वाक्यों का निर्माण होता है। जहाँ शब्दों और वाक्यों का अध्ययन भाषा के तात्त्विक रूप की विवेचना करने के लिए महत्त्वपूर्ण है, वहाँ ध्वनियों का वैज्ञानिक विश्लेषण किये बिना वाक्य-विचार और शब्द-चर्चा असम्भव है। ध्वनियों का सामान्य अर्थ है दो वस्तुओं के टकराने से होने वाली आवाज़, परंतु भाषा-विज्ञान में इसे भिन्न अर्थ में प्रयोग किया जाता है। ध्वनियों का वैज्ञानिक अध्ययन करते समय हम 'ध्वनि' शब्द की भाषा वैज्ञानिक परिभाषा देते हैं तथा संध्वनि और ध्वनिग्राम में अन्तर, ध्वनियों की उत्पत्ति की प्रक्रिया, ध्वनि-यंत्र अथवा उच्चारण के अवयवों का परिचय, किसी भाषा विशेष में प्रयुक्त होने वाली ध्वनियों का परिचय तथा उनका वर्गीकरण आदि विषयों पर विचार करते हैं। इसके साथ ही ध्वनि-विकार की दिशाएँ तथा उनके कारण एवं कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण ध्वनि-नियमों को भी इस वैज्ञानिक अध्ययन में सम्मिलित किया जाता है।

इस इकाई में हम ध्वनि-विज्ञान का विश्लेषण करने के उपरांत पद का अर्थ, पद तथा शब्द में अंतर,

पद के भेद तथा पद परिवर्तन के कारण तथा दिशाओं का विश्लेषण भी करेंगे।

भाषा-विषयक अध्ययन में रूप-विज्ञान को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यह अध्ययन पद अर्थात् रूप से संबंधित होता है। प्रश्न उठता है कि यह रूप या पद क्या होता है? सामान्यतः पद या रूप दोनों शब्द के लिए प्रयुक्त होते हैं। पद या शब्द भाषा का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। किसी भी भाषा में भावों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का एक विशेष व्यवस्था में व्यवहार किया जाता है। विद्वान् कॉलरिज ने कविता की परिभाषा देते हुए शब्दों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बतलाया

था। उनके शब्दों में च्वमजतल पे इमेजूवतके पद इमेज वतकमतण् अर्थात् कविता श्रेष्ठ व्यवस्था है। व्यवहार में भले ही शब्द, पद और रूप को एक-दूसरे का पर्यायवाची कह दिया जाता हो, परन्तु वास्तव में इन तीनों में बड़ा सूक्ष्म अन्तर है।

हम अपने विचारों-भावों को प्रकट करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते हैं उसमें अनेक छोटे-बड़े वाक्य समाहित रहते हैं। अधिकतर एक विचार को प्रकट करने के लिए वक्ता एक वाक्य का प्रयोग करता है, इसलिए वाक्य भाषा की एक महत्त्वपूर्ण इकाई माना जाता है। वाक्य में प्रयोग किये हुए प्रत्येक शब्द को एक पद कहा जाता है। इस प्रकार एक वाक्य का विश्लेषण करते हुए उसे हम पदों में विश्लेषित करते हैं। इन पदों का अध्ययन ही पद-विज्ञान या रूप-विज्ञान कहलाता है, क्योंकि पद और रूप दोनों पर्यायवाची हैं और एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं।

3.2. इकाई के उद्देश्य

- ध्वनि का अर्थ, उसके उच्चारण अवयव, उसके कार्य तथा ध्वनियों के वर्गीकरण को जान पाएंगे;
- ध्वनि परिवर्तन के कारणों का विश्लेषण कर पाएंगे;
- ध्वनि परिवर्तन की दिशाओं से अवगत हो पाएंगे;
- ध्वनि नियम की समीक्षा कर सकेंगे;
- पद का अर्थ, पद तथा शब्द में अंतर तथा पद के भेदों का विश्लेषण कर पाएंगे;
- पद परिवर्तन के कारणों की समीक्षा कर पाएंगे;
- पद परिवर्तन की दिशाओं की विवेचना कर सकेंगे।

3.3. ध्वनि विज्ञान

भाषा-विज्ञान और ध्वनि

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से 'ध्वनि' शब्द का एक विशेष अर्थ है। 'ध्वनि; इन मानवकृत ध्वनियों को कहा

जाता है जिन्हें मानव अपने भाव या विचार प्रकट करने के लिए अपने उच्चारण अवयवों की सहायता से उत्पन्न करता है। इन ध्वनियों के लिखित रूप में कुछ लिपि चिह्न अपनाए जाते हैं, जिन्हें वर्ण कहा जाता है। इन्हीं वर्णों के संग्रह को वर्गमाला कहा जाता है। पशु-पक्षियों की ध्वनियों से मानवकृत ध्वनियाँ भिन्न होती है। भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में पशु-पक्षियों की ध्वनियों को सम्मिलित नहीं किया जाता, क्योंकि विद्वानों ने इन ध्वनियों को 'अव्यक्त वाक्' अर्थात् अस्पष्ट कहा है। मानव-ध्वनियाँ 'व्यक्त वाक्' या स्पष्ट कहीं गई हैं। भाषा-विज्ञान केवल उन्हीं ध्वनियों का अध्ययन करता है, जो मानव भावों और विचारों को प्रकट करने वाली भाषा के निर्माण में सहायक होती है।

उच्चारण अवयव तथा उनके कार्य

मानव ध्वनियों को उच्चरित करने के लिए मुख में स्थित जिन अंगों की सहायता ली जाती है उन्हें ही उच्चारण अवयव या उच्चारण के अंग कहा जाता है। 1. फेफड़े, 2. श्वास नली, 3. स्वरयंत्र, 4. स्वरतंत्रियाँ, 5. गलबिल, 6. अभिकाकल, 7. मुख-नासिका-संधिस्थल, 8. नासिका विवर, 9. मुख विवर, 10. कौआ (काग), 11. तालु, 12. जिह्वा, 13. दन्त, 14. ओष्ठ।

इन अवयवों का वर्णन इस प्रकार है-

फेफड़े

ये शरीर का वह अंग है जो निरंतर फैलने और सिकुड़ने की क्रिया के द्वारा नासिका विवर से वायु भीतर खींचते और बाहर फेंकते रहते हैं। यह श्वसन क्रिया कहलाती है। ध्वनि उत्पन्न करते समय फेफड़ों की श्वास क्रिया के सहयोग से ही जिह्वा आदि उच्चारण अवयव सक्रिय हो पाते हैं। श्वास के अभाव में कोई ध्वनि उत्पन्न नहीं हो सकती। पाणिनीय 'शिक्षा' में इसी वायु को 'मारुत' कहा गया है।

श्वास नलिका तथा कंठ पिटक

फेफड़ों से श्वास वायु को जो नलिकाएँ मुख तथा नासिका तक ले जाती हैं, वे श्वास नलिकाएँ कहलाती हैं। इन श्वास नलिकाओं का अंतिम छोर कंठ पिटक कहा जाता है। इसे जन भाषा में टेंडुआ कहा जाता है। इसे स्वर-यंत्र भी कहते हैं क्योंकि इसमें सभी-स्वर नलिकाएँ रहती हैं। मौन अवस्था में तो श्वास नलिकाओं के द्वारा ले जाई गई वायु नासिका के मार्ग से चुपचाप निकल जाती है, परन्तु मनुष्य के बोलने की स्थिति में यह वायु स्वर तंत्रियों से टकरा कर ध्वनि उत्पन्न करती है।

स्वरतंत्रियाँ

ध्वनि उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली ये स्वरतंत्रिकाएँ पतली खाल चमड़ी की नलियाँ ओठों के समानदो परदे-सी होती हैं। स्वरतंत्रियों के बीच में अवकाश या छिद्र को ही 'काकल' कहा जाता

है। कुछ विद्वानों ने इसे कंठद्वार संज्ञा भी दी है।

गलबिल या ग्रसनिका

काकल के ऊपर तथा मुख विवर के पहले का भाग ही गल बिल कहलाता है। इसे ग्रसनिका भी कहते हैं। ध्वनि उत्पन्न करने में इसका भी महत्वपूर्ण स्थान है।

मुख-विवर

इसके भीतर कई उच्चारण अवयव आते हैं जैसे जिह्वा।

जिह्वा-यह बहुत ही कोमल उच्चारण अवयव है। अपने पतले और लचकीले गुण के कारण जिह्वा अनेक वर्णों के उच्चारण में अनेक रूप धारण कर लेती है जैसे अ, आ, इ, ई, उ, ऊ के उच्चारण करते समय। (2) यह मुख में दन्त, तालु, मूर्धा को स्पर्श करती हुई अंदर से बाहर आती हुई वायु को एक क्षण में रोक कर स्फोटक वर्णों को उत्पन्न कर सकती है। जिह्वा की सहायता से ही ध्वनियाँ, वर्णों-शब्दों और भाषा में परिणत होती है। बिना जिह्वा की सहायता के कोई कुछ भी भाषा बोलने में समर्थ नहीं हो सकता। सभी स्पर्श व्यंजन क्, से 'म्', तक जिह्वा के स्पर्श से ही बोले जा सकते हैं। यह जिह्वा मुख विवर से निकलने वाली वायु का मार्ग इतना संकरा कर देती है कि उसे, घर्षण करते हुए निकलना पड़े इससे स, ज घर्षण ध्वनियों का उच्चारण हो पाता है। यह वायु को बिना किसी रुकावट या स्पर्श के निकलने देती है, जिससे स्वरों का उच्चारण हो पाता है जैसे अ, आ आदि।

ओष्ठ

ध्वनियों के उच्चारण करते समय ओष्ठ भी जिह्वा की भाँति विभिन्न प्रकार का आकार धारण करते हैं। 'प', 'ब' आदि ध्वनियों का स्पर्श द्वारा उच्चारण किया जाता है तथा 'च' 'छ' आदि के उच्चारण में वायु संघर्ष करती हुई निकलती है।

दन्त

दाँतों की सहायता से भी त, थ, र, ल आदि ध्वनियों का दन्त मूल, मध्य, पश्च आदि भागों के स्पर्श द्वारा उच्चारण होता है। हिन्दी, संस्कृत के 'वन' जैसे शब्दों के उच्चारण में दाँतों का ओष्ठों से स्पर्श होकर वायु घर्षण करती हुई बाहर निकलती है।

तालु

मुख विवर का ऊपरी भाग तालु कहलाता है। इसकी बनावट कोमल और कठोर होती है इसी को आधार बना कर इसके कोमल तालु और कठोर तालु दो भेद हैं।

कोमल तालु - यह तालु का कंठ की ओर का भाग है। अनुनासिक ध्वनियों के उच्चारण करते समय यह वायु को नाक में जाने से रोकता है। यह तेजी से हिल-डुल सकता है, यह इसकी विशेषता है।

नासिका

कुछ ध्वनियों का उच्चारण करते समय ओष्ठ बंद रहते हैं तब नासिका ही वायु को बाहर निकालती है। नासिक्य ध्वनियों का उच्चारण (अनुस्वार) नासिका से ही होता है।

मुख तथा नासिका का संधि स्थल

उच्चारण अवयव की दृष्टि से यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अनुनासिक ध्वनियों के उच्चारण में इसकी भी सहायता लेते हैं। निष्कर्षतः फेफड़े, कण्ठपिटक, गलबिल (त्रिकोण आकार का स्वर यंत्र, मुख विवर, जिह्वा, ओष्ठ, दन्त, वत्स, लघु, नासिका आदि सभी का वाक् यंत्र के अवयवों की दृष्टि से महत्त्व है।

ध्वनियों का वर्गीकरण

ध्वनियों के वर्गीकरण करने से पूर्व यह जान लेने की आवश्यकता है कि किसी भी भाषा विशेष में कुल ध्वनियाँ कितनी हैं? यद्यपि बोलचाल में किसी भी भाषा में जितनी ध्वनियाँ होती हैं उनका निश्चय कर पाना कठिन होता है फिर भी प्रत्येक भाषा में उसके लिखित रूप के अन्दर कुछ वर्णों को स्वीकार किया जाता है जो उसका 'ध्वनि-समूह' या 'वर्ण समूह' कहलाता है। कुछ भाषाओं के ध्वनि समूह उदाहरण के लिए नीचे दिये जा रहे हैं-

वैदिक ध्वनि-समूह

स्वर

मूल स्वर- अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ओ। = (11)

संयुक्त स्वर - अइ (ऐ) अउ (औ) = (2)

व्यंजन

स्पर्श- क् ख् ग् घ् ङ् (कण्ठ्य)
 च् छ् ज् झ् ञ् (तालव्य)
 ट् ठ् ड् (ळ) ढ् (ळ्ह) ण् (मूर्धन्य)
 त् थ् द् ध् न् (दन्त्य)
 प् फ् ब् भ् म् (ओष्ठ्य) = (27)

अन्तस्थ- य् र् ल् व्	= (4)
अघोष संघर्षी- श् ष् स्	= (3)
घोष ऊष्म - ह्	= (1)
अघोष ऊष्म- : (विसर्ग), क्(जिह्वामूलीय), प् (उपध्मानीय) =	(3)
शुद्ध अनुस्वार - ँ	= (1)
कुल	= (52)

संस्कृत भाषा का ध्वनि समूह

स्वर

मूल स्वर- अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ओ।	= (11)
संयुक्त स्वर - अइ (ऐ) अउ (औ)	(2)

व्यंजन

स्पर्श- क् ख् ग् घ् ङ् (कण्ठ्य)	
च् छ् ज् झ् ञ् (तालव्य)	
ट् ठ् ड् ढ् ण् (मूर्धन्य)	
त् थ् द् ध् न् (दन्त्य)	
प् फ् ब् भ् म् (ओष्ठ्य)	= (25)
अन्तस्थ- य् र् ल् व्	= (4)
अघोष संघर्षी- श् ष् स्	= (3)
घोष ऊष्म - ह्	= (1)
अघोष ऊष्म- : (विसर्ग)	= (1)
शुद्ध अनुस्वार - ँ	= (1)
कुल	= (48)

हिन्दी भाषा का ध्वनि समूह

स्वर

मूल स्वर-	अ आ इ ई उ ऊ ए ओ	=8
संयुक्त स्वर-	ऐ (अइ) औ (अउ)	=2

व्यंजन

स्पर्श-	क्(क़) ख् ग् घ्	
	ट् ठ् ड् ढ्	
	त् थ् द् ध्	
	प् फ् ब् भ्	= 17
संघर्षी-ह	ख् ग् श् स् ज् फ् व्	= 8
स्पर्श संघर्षी-	च् छ् व् झ्	= 4
अनुनासिक-	ङ् ज्ञ् ण् न्ह् म् म्हा	= 7
पाश्र्विक-	ल् (ल्ह्)	= 2
लुंठित-(र्) (र्ह)		= 2
उत्क्षिप्तङ् ङ्		= 2
अन्तस्थ या अर्द्धस्वर-	य् व्	= 2
		= 54

ध्वनियों का वर्गीकरण और उसके आधार

ध्वनियों का वर्गीकरण तीन दृष्टियों या आधारों पर किया जाता है, जैसे-

1. श्रवणीयता की दृष्टि से
2. स्थान की दृष्टि से
3. प्रयत्न की दृष्टि से

1. श्रवणीयता की दृष्टि से

श्रवणीयता से हमारा अभिप्राय है ध्वनियों या वर्णों के सुने जाने की योग्यता या सामर्थ्य। प्रत्येक भाषा में

कुछ ध्वनियाँ तो इतनी पुष्ट या स्पष्ट होती हैं जिन्हें श्रोता दूर से भी सुनने में समर्थ हो जाता है तथा कुछ ध्वनियाँ अपेक्षाकृत कम परिपुष्ट या कम स्पष्ट होती हैं जिन्हें श्रोता दूर से सुन नहीं पाता। इस प्रकार यह श्रवणीयता का आधार हुआ, इसमें ध्वनियों के तीन वर्ग बन जाते हैं, जैसे-(क) स्वर,(ख) व्यंजन तथा (ग) अन्तःस्था।

(क) स्वर

महाभाष्यकार पतंजलि के अनुसार स्वर स्वतंत्र हैं,उनका उच्चारण स्वतंत्र रूप से किया जा सकता है, परन्तु व्यंजन स्वरों का अनुसरण करने वाले हैं अर्थात् स्वरों को सहायता से व्यंजनों का उच्चारण किया जा सकता है।स्वरों के उच्चारण में वायु मुख विवर के भीतर किसी अवयव को स्पर्श किये बिना बाहर निकलती है। जब किसी ध्वनि के उच्चारण में श्वास वायु मुख विवर में क्षण भर रुक कर झटके से पुनः बाहर निकलती है तो यह ध्वनि स्फोट कहलाता है। स्फोट का अर्थ है फूटना या फटना।

स्वरों की विशेषता

1. सभी स्वर सघोष होते हैं अर्थात् स्वरों के उच्चारण में स्वरतंत्रियों में व्यंजनों के उच्चारण की तुलना में अधिक कम्पन होता है।
2. स्वरों के उच्चारण में जिह्वा को विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ धारण करनी पड़ती है और मुख विवर को खुला या कम खुला कर देती है।
3. स्वरों के उच्चारण में जिह्वा और ओष्ठ का कहीं स्पर्श नहीं होता।
4. स्वरों का उच्चारण काफी देर तक किया जा सकता है।
5. स्वरों को काफी दूर तक सुना जा सकता है।
6. स्वरों का उच्चारण किसी अन्य की सहायता के बिना स्वतंत्र रूप से किया जा सकता है।
7. स्वराघात वहन करने की क्षमता व्यंजनों में नहीं होती केवल स्वरों में होती है।
8. व्यंजनों में मिल कर स्वर अक्षर बनाते हैं। “ऑसिलोग्राफ” नामक ध्वनि यंत्र से परीक्षण करने पर स्वरों की इन सभी विशेषताओं का स्पष्ट रूप से पता चल सकता है।

(ख) व्यंजन

ध्वनि का दूसरा भेद है जो स्वर से भिन्न है, व्यंजन कहलाता है। व्यंजन उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण करते समय स्वरयंत्र से बाहर निकलती हुई श्वास वायु मुख विवर में या मुख नासिका के संधि स्थल में कहीं न कहीं अवरूद्ध होकर या संघर्षित होकर मुख या नासिका से बाहर निकलती है। व्यंजनों के

उच्चारण में जिह्वा आदि (करण) का तालु आदि (स्थानों) से स्पर्श होता है तथा स्फोट होता है। इसी कारण व्यंजन ध्वनियों को स्पर्श या स्फोट भी कहते हैं।

व्यञ्जनों की कतिपय विशेषताएँ

1. स्वरों की सहायता के बिना व्यञ्जनों का उच्चारण नहीं हो सकता। अतः वे स्वरों के अनुसरण करने वाले कहे जाते हैं।
2. व्यञ्जनों के उच्चारण में श्वासवायु मुख विवर में अवरुद्ध अवश्य होती है अथवा संघर्ष करती हुई बाहर निकालती है।
3. व्यञ्जनों का उच्चारण देर तक नहीं किया जा सकता।
4. स्वरों की तुलना में व्यंजन कम परिस्फुट (स्पष्ट) होते हैं जिससे उन्हें दूर से नहीं सुना जा सकता।
5. व्यंजन स्वराघात वहन करने में असमर्थ होते हैं।
6. व्यंजन स्वतंत्र रूप से अक्षर नहीं बना सकते।

(ग) अन्तःस्थ

श्रवणीयता को आधार बनाकर किये गये ध्वनियों के वर्गीकरण में स्वर और व्यंजन के पश्चात् तीसरा वर्ग अन्तःस्थ कहलाता है। अन्तःस्थ वे ध्वनियाँ होती हैं जो कम परिस्फुट स्वर के बाद अधिक परिस्फुट स्वर के आ जाने पर पहले वाले स्वर का उच्चारण जहाँ ह्रस्व हो जाता हो- जो स्वर बहुत ह्रस्व उच्चरित होते हैं, जैसे य, र, ल, वा।

अन्तःस्थ ध्वनियों की विशेषताएँ

अन्तःस्थ ध्वनियाँ स्वरों के समान दूर तक सुनाई नहीं देती, अतः स्वरों से भिन्न होती है। इनके उच्चारण में जिह्वा का स्थान पर पूर्ण स्पर्श नहीं कहा जा सकता। इनसे अक्षर भी नहीं बन पाते। न तो ये ध्वनियाँ पूरी तरह स्वर होती हैं और न ही व्यंजन। इनकी बीच की-सी स्थिति है। अतः स्वर और व्यंजन के बीच मध्यवर्ती ध्वनियाँ कही जा सकती हैं।

2. स्थान के आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण

श्वास नलिका से प्रवाहित होती हुई प्राण-वायु वाणी के यंत्र में जिस स्थान पर एकत्रित होकर ध्वनि बनती है कायंत्र का वह स्थान उस ध्वनि का स्थान कहलाता है।

हिन्दी और संस्कृत भाषा में प्रयोग होने वाली ध्वनियों की दृष्टि से निम्नलिखित उच्चारण-अवयव ध्वनि उत्पन्न करने के स्थान कहे जाते हैं-

(1) काकल (32), (2) जिह्वामूल (3), कण्ठ अथवा कोमल तालु, (4) नासिका, (5) कण्ठ तथा तालव्य, (6) कण्ठोष्ठ्य, (7) मूर्धा, (8) (कठोर) तालु, (9) वर्त्स, (10) दन्त, (11) दन्त तथ ओष्ठ, (12) दोनों ओष्ठ।

इन स्थानों पर उत्पन्न होने के कारण ध्वनियों का इन्हीं के समान नाम पड़ जाता है। इन उच्चारण स्थानों के कारण ध्वनियाँ इस प्रकार कहलाती हैं-

(1) काकल्य (उरस्य), (2) जिह्वामूलीय, (3) काण्ठ्य या कोमलतालव्य, (4) नासिक्य, (5) कण्ठ-तालव्य, (6) कण्ठोष्ठ्य, (7) मूर्धन्य, (8) तालव्य, (9) वर्त्स्य, (10) दन्त्य, (11) दन्तोष्ठ्य, (12) द्वयोष्ठ्य।

ऊपर लिखे गए ध्वनियों के उच्चारण स्थानों एवं उनमें उच्चरित होने वाली ध्वनियों का विवरण निम्नलिखित हैं-

1.काकल्य ध्वनियाँ- मानव के कण्ठ पिटक या स्वरयंत्र में दो लचकवाली स्वरतंत्रियाँ होती हैं। श्वास नलिका से प्रवाहित होने वाली वायु इन्हीं स्वरतंत्रियों के मध्य से होकर जब निकलती है तब सामान्य ध्वनि उत्पन्न होती है। इन्हीं स्वरतंत्रियों के मध्य में स्थित वायुमार्ग 'काकल' कहलाता है। 'काकल' स्थान से उच्चरित होने वाली ध्वनियों को ही 'काकल्य' ध्वनियाँ कहते हैं। इसके उदाहरणस्वरूप है विसर्ग (:) तथा ह्र। कुछ विद्वान् इनका उच्चारण स्थान उर मान कर इन्हें उरस्य कहते हैं।

2.जिह्वामूलीय- मानव मुख के भीतर जिस स्थान पर जीभ प्रारम्भ होती है वही जिह्वामूल कहलाता है। जब जिह्वामूल का वायु मार्ग रोकता हुआ अलिजिह्वा (कौआ) ध्वनि उत्पन्न करता है तो वे ध्वनियाँ जिह्वामूलीय कहलाती हैं। उदाहरण के लिए अरबी की कुछ ध्वनियाँ ले सकते हैं जो हिन्दी में स्वीकृत हो चुकी हैं, जैसे- क़, ग़, ज़, ख़ आदि।

संस्कृत में क् तथा ख् से पूर्व विसर्ग के समान उच्चरित होने वाली ध्वनि को जिह्वामूलीय कहा जाता है।

कण्ठ्य ध्वनियाँ- इन्हें कोमल तालव्य भी कहा जाता है। प्राचीन शिक्षाकारों ने मानव मुख विवर में अलिजिह्वा (कौआ) तथा मूर्धा के मध्य भाग को कंठ कहा है। आधुनिक भाषा शास्त्रियों ने इसे कोमल-तालु नाम दिया है। इस स्थान से उत्पन्न ध्वनियाँ कण्ठ्य कहलाती हैं। ये तीन प्रकार की होती हैं।

1.कंठ के साथ जिह्वा पश्च के सहयोग से उत्पन्न, जैसे- क् ख् ग् घ्।

2.कण्ठ के साथ अलिजिह्वा (काग) तथा नासिका के सहयोग से उत्पन्न ध्वनियाँ, जैसे- अँ, आँ, इ आदि सभी अनुनासिक स्वर।

नासिक्य

हमारी श्वास क्रिया का प्रमुख अंग नासिका ही है। नासिका से उत्पन्न ध्वनियाँ, नासिक्य कहलाती हैं। जब

हमारे ओठ बंद हों और श्वास वायु नासिका से ही बाहर निकलती हो जैसे, अनुस्वार (-ं) नासिक-ध्वनि है।

कण्ठ तालव्य

तालु से अभिप्राय यहाँ कठोर तालु से है। कण्ठ और कठोर तालु से उत्पन्न ध्वनियाँ कण्ठ तालव्य कहलाती हैं। कठोर तालु के समीप जिह्वा जाने से इनमें कुछ विशेषता उत्पन्न हाती है। ए, ऐ आदि ऐसी ही ध्वनियाँ हैं।

कण्ठोष्ठ्य

कण्ठ तथा ओष्ठों के सहयोग से उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ कण्ठोष्ठ्य कहलाती हैं। जैसे ओ, औ आदि। इन ध्वनियों का उच्चारण करते समय ओष्ठ एक विशेष मुद्रा धारण कर लेते हैं और उत्पत्ति स्थान इनका कण्ठ है। अतः कण्ठोष्ठ्य ध्वनियों के उच्चारण में कण्ठ एवं ओष्ठों की समान भूमिका रहती है।

मूर्धन्य

मुख विवर में ऊपरी भाग में जो सबसे ऊँचा स्थान होता है उसे मूर्धा कहा जाता है जो ध्वनियाँ मूर्धा में जिह्वा के स्पर्श से उत्पन्न होती हैं वे मूर्धन्य कहलाती हैं, जैसे- ट ठ ड ढ ण ङ आदि। डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार हिन्दीमें 'ट' वर्ग को मूर्धन्य माना जाता है, परन्तु इसका उच्चारण अब मूर्धा से न होकर लगभग कठोर तालु से होता है।

तालव्य

जिन ध्वनियों का उच्चारण तालु से होता है वे तालव्य कहलाती है जैसे- इ ई च छ ज झ जयश आदि।

वत्स्य

जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा का स्पर्श मसूढ़ों से होता है वे वत्स्यध्वनियाँ कहलाती हैं। उदाहरणार्थ- न्, न्ह, ल्, ल्ह, र्, ह्, स्, ज्, आदि।

दन्त्य

दन्त का अर्थ है ऊपर के दाँत। अतः जिन ध्वनियों के उच्चारण में हमारी जिह्वा का अग्र भाग दाँतों के पिछले भाग को स्पर्श करता है, वे दन्त्य ध्वनियाँ कही जाती हैं, जैसे- त्, थ्, द्, ध्, न् तथा लृ, लृ, स्। ये ध्वनियाँ हिन्दी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में दन्त्य ही मानी जाती हैं।

दन्तोष्ठ्य

जिन ध्वनियों के उच्चारण में ऊपर के दाँत नीचे के ओष्ठ का स्पर्श करते हैं, वे दन्तोष्ठ्य ध्वनियाँ कहलाती

हैं, जैसे- व, फ आदि। दोनों ओष्ठों द्वारा मुख विवर को अवरुद्ध करके जो ध्वनियाँ निकलती हैं वे द्वयोष्ठ कहलाती हैं जैसे- प, फ, ब, भ, आदि। उ, ऊ आदि। उ, ऊ, (स्वर) तथा उपध्मानीय (विसर्ग से पूर्व आधे विसर्गसदृश ध्वनि) भी इसी में गिनी जाती हैं।

3. प्रयत्न के आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण

वर्णों अथवा ध्वनियों के उच्चारण में प्राणों का जो व्यापार होता है, वह प्रयत्न कहलाता है। यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है- एक तो इन ध्वनियों या वर्णों के उच्चारण के पूर्व और दूसरा इनके उच्चारण के अन्त में। पहले किए जाने वाले प्रयत्न को आभ्यन्तर और अन्त में किए जाने वाले प्रयत्न को बाह्य प्रयत्न कहते हैं। डॉ. परमानन्द गुप्तने प्रयत्न के आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है-

(क) आभ्यन्तर प्रयत्न-

किसी ध्वनि के उच्चारण से पहले मन में इच्छा उत्पन्न होती है। उस इच्छा के अनुसार अन्दर प्राण का व्यापार प्रारम्भ होता है। इसे आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न भी पाँच प्रकार का माना गया है-

(i) स्पृष्ट- मुख के तालु आदि भागों के पूर्ण स्पर्श के रूप में जिह्वा द्वारा जो प्रयत्न व्यंजन वर्णों का उच्चारण करने में होता है उसे स्पृष्ट कहते हैं और इसीलिए पाँचों वर्णों (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग) के वर्ण स्पर्श कहलाते हैं।

(ii) ईषत्स्पृष्ट- जिन वर्णों के उच्चारण में वायु को थोड़ा-सा रोक कर छोड़ा जाता है और जिह्वा उच्चारण-स्थान पर थोड़ा-सा स्पर्श करती है, उन्हें ईषत्स्पृष्ट कहते हैं। इनमें अन्तःस्थ वर्ण य, र, ल, व आते हैं।

(iii) ईषद्विवृत- जिन वर्णों के उच्चारण में मुख आधा खुलता है और वायु घर्षण के साथ बाहर आती है, उन्हें ईषद्विवृत कहते हैं। इनमें ऊष्मवर्ण श, ष, स, ह को सम्मिलित किया गया है।

(iv) विवृत- स्वरों के उच्चारण में मुख पूरा खुला रहता है। उनमें न स्पर्श होता है और न घर्षण होता है अतः उन्हें विवृत कहा जाता है।

(v) संवृत- बोलचाल में जब ह्रस्व अ का उच्चारण किया जाता है तो मुख-द्वार संकुचित रहता है इसलिए उसे संवृत कहा जाता है।

(ख) बाह्य प्रयत्न -

वर्णों के उच्चारण के अन्त में जो प्राण वायु का व्यापार होता है उसे बाह्य प्रयत्न कहा जाता है। संस्कृत भाषा के ध्वनि-विज्ञान में इनकी संख्या ग्यारह मानी गई है-

1. विवार- जिन वर्णों के उच्चारण के अन्त में मुख-द्वार खुला रहता है उनका बाह्य प्रयत्न 'विवार' कहा

जाता है। इनमें वर्णों के प्रथम, द्वितीय वर्ण (क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ), श, ष, स तथा विसर्ग सम्मिलित हैं।

2. **संवार-** जिन वर्णों के उच्चारण के अन्त में मुख-द्वार कुछ संकुचित रहता है उनका बाह्य प्रयत्न 'संवार' कहलाता है। इनमें सभी मूल स्वर वर्णों के तृतीय, चतुर्थ, पंचम वर्ण तथा य, र, ल, व, ह, सम्मिलित हैं।

3. **श्वास-** जिन वर्णों के उच्चारण के अन्त में श्वास बिना रगड़ खाए बाहर आता है उनका बाह्य प्रयत्न 'श्वास' कहलाता है। इनमें विवार वाले वर्ण अर्थात् वर्णों के प्रथम, द्वितीय वर्ण, ऊष्म (श, ष, स) और विसर्ग सम्मिलित है।

4. **नाद-** जिन वर्णों के उच्चारण के अन्त में कुछ गूँज सी रहती है उनका बाह्य प्रयत्न 'नाद' कहा जाता है। इनमें संवार प्रयत्न वाले-स्वर, वर्णों के तृतीय, चतुर्थ, पंचम वर्ण तथा ह, य, र, ल, व सम्मिलित है।

5. **घोष-** जिन ध्वनियों या वर्णों का उच्चारण करते हुए ध्वनि कण्ठ के नीचे के भाग से घूमते हुए निकलती है, उन्हें 'घोष' कहते हैं। इनमें संवार, नाद प्रयत्न वाली सभी ध्वनियाँ अर्थात् सभी स्वर, तथा वर्णों के तृतीय, चतुर्थ, पंचम वर्ण, और ह, य, र, ल, व सम्मिलित हैं।

6. **अघोष-** जिन ध्वनियों या वर्णों के उच्चारण में कण्ठ से सीधी ध्वनि आती है। उनका बाह्य प्रयत्न 'अघोष' कहा जाता है। इनमें वर्णों के प्रथम, द्वितीय वर्ण, श, ष, स, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय सम्मिलित हैं। विवार और श्वास प्रयत्न में भी यही वर्ण आते हैं।

7. **अल्पप्राण-** जिन वर्णों के उच्चारण में प्राणवायु कम निकलती है उन्हें 'अल्पप्राण' कहते हैं। इनमें वर्णों के प्रथम, तृतीय और पंचम वर्ण तथा य, र, ल, व सम्मिलित हैं (वर्गाणां प्रथमतृतीयपंचमा यरलवाश्चाल्पप्राणाः)।

8. **महाप्राण-** जिन वर्णों के उच्चारण में प्राणवायु अधिक लगती है उन्हें महाप्राण कहते हैं। इनमें वर्णों के द्वितीय, चतुर्थ वर्ण तथा श, ष, स, ह, विसर्ग सम्मिलित हैं। (द्वितीयचतुर्थौशलश्च महाप्राणाः)।

शेष तीन उदात्त, अनुदात्त और स्वरित प्रयत्नों का उपयोग वैदिक भाषा में मिलता है। लोक भाषा में भी स्वरों पर बल तो दिया जाता है, परन्तु उनका न तो व्यवस्थित विश्लेषण किया गया है और न नियमन ही। प्रत्येक स्वर तीनों भेदों में हो सकता है।

9. **उदात्त-** वेद-मंत्रों के पाठ में जब किसी वर्ण में विद्यमान स्वर का उच्चारण उसके उच्चारण-स्थान के उच्च भाग से किया जाता है तो उसे उदात्त कहते हैं (उच्चैरुदात्तः, 1-2-29)

10. **अनुदात्त-** जब वेद-पाठ में किसी स्वर का उच्चारण-स्थान के निम्न भाग से उच्चारण किया जाता है तो उसे अनुदात्त कहते हैं (नीचैरनुदात्तः, 1-2-30)।

11. स्वरित- जब किसी स्वर का उच्चारण उदात्त और अनुदात्त के मध्य भाग से किया जाता है तो उसे स्वरित कहते हैं (समाहारः स्वरितः, 1-2-31)।

ध्वनि परिवर्तन का अर्थ

किसी भी भाषा के विकास पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि उसके प्राचीन और नवीन रूप में पर्याप्त अन्तर आ गया है। यह अन्तर उसमें हुए अनेक प्रकार के परिवर्तनों को सूचित करता है। किसी शब्द में कहीं कोई नयी ध्वनि आ मिली है तो कहीं कोई ध्वनि लुप्त हो गई है। किसी ध्वनि का स्थान परिवर्तित हो गया है तो किसी ध्वनि का घोष से अघोष हो जाना अथवा अघोष ध्वनि का घोष हो जाना सभी परिवर्तन भाषा में ध्वनि-परिवर्तन कहे जाते हैं। बहुत काल तक किसी शब्द का प्रयोग होते रहने पर उसकी कई ध्वनियाँ अल्पप्राण हो जाती हैं तो कोई-कोई अल्पप्राण ध्वनि महाप्राण ध्वनि का रूप ले लेती है। इन सभी को ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएँ कहा जाता है।

ध्वनि परिवर्तन की दिशाओं को हम निम्नलिखित नामों से पुकारते हैं-

1. आगम

किसी शब्द में पहले से कोई ध्वनि जब अविद्यमान रहती है और बाद में उसमें वह आ मिलती है तो चाहे वह स्वर हो, व्यंजन हो अथवा अक्षर हो वह नवीन आई ध्वनि 'आगम' कहलाती है। यह ध्वनि का आगमन शब्द के प्रारम्भ, मध्य अथवा अन्त में कहीं भी हो सकता है। इस प्रकार यह स्वरागम भी तीन प्रकार का होता है, (आदि, मध्य, अन्त) व्यंजनागम भी तथा इसी प्रकार अक्षरागम भी। इससे स्पष्ट होता है कि आगम नौ रूपों में दिखाई पड़ता है अथवा इसके नौ भेद कहे जा सकते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं- स्वर्ण से सुवर्ण, शाप से श्राप, वधू से वधूटी, स्कूल से इस्कूल, वरयात्रा से बारात, प्यारा से पिआरा, प्रिय से पिया आदि।

2. लोप

किसी शब्द में पहले विद्यमान ध्वनि का उसके परिवर्तित रूप में न पाया जाना ध्वनि का लोप कहलाता है। जैसे- स्कंध से कंधा, स्नान से नहाना, शिक्षा से सीख, ग्राम से गाँव, सर्प से साँप आदि स्नेह से नेह, वाष्प से भाँप, दूर्वा से दूब, भगिनी से बहिन, भण्डागार से भाण्डार और फिर भण्डार, सूची से सूई, अभ्यन्तर से भीतर आदि उदाहरण में कभी आदि में, कभी मध्य में और कभी अन्त में ध्वनि का लोप हो गया है। आगम की ही भाँति लोप के भीठीक उसी प्रकार नौ भेद होते हैं। स्वर, व्यंजन, शब्द- इन तीनों के आदि, मध्य और अन्त के लोप नौ प्रकार के हो गए। लोप का दसवाँ रूप है समान अक्षर का लुप्त होना जैसे नाक कटा से नकटा आदि।

3. विपर्यय

किसी शब्द में न तो कोई नयी ध्वनि जुड़ी हो और न लुप्त हुई हो अपितु शब्द की ध्वनियाँ अपना स्थान बदल कर आगे-पीछे हो गई हो, उसे विपर्यय कहा जाता है। उदाहरण के लिए अदरक से अदकर, लखनउ से लखलऊ, ससुर से सुसर, पागल से पगला, मतलब से मतबल, आदि। कभी-कभी शब्द या शब्दांश का भी विपर्यय हो जाया करता है जैसे आगे-पीछे से पीछा-आगा रात-दिन से दिन - रात, ओखल-मूसल से मूखल-ओसल। इसे अंग्रेजी भाषा में स्पूनरिज़्म कहा जाता है। ऐसे और भी अनेक उदाहरण हैं।

4. समीकरण

किसी शब्द में जहाँ दो ध्वनियाँ हों जिनमें एक सशक्त ध्वनि दूसरी ध्वनि को अपने अनुरूप परिवर्तित कर लेती है, इसे समीकरण कहा जाता है। जैसे संस्कृत का अग्नि प्राकृत में अग्गि हो जाता है, धर्म (संस्कृत) से धम्म (प्राकृत) हो जाता है। वल्कल से वक्कल आदि। समीकरण स्वर का व्यंजन का दो प्रकार का हुआ एवं पुनः उसके दो भेद हैं अग्र और पश्च। इस प्रकार समीकरण चार प्रकार का हो जाता है।

5. विषमीकरण

जहाँ दो एक ही प्रकार की ध्वनियाँ धीरे-धीरे असमान होकर विषमता में बदल जाएँ वहाँ विषमीकरण कहा जाता है जैसे कंकन से कंगन। समीकरण की भाँति इसके भी स्वर विषमीकरण, व्यंजन विषमीकरण, अग्र और पश्च इस प्रकार चार भेद होते हैं।

6. सघोषीकरण

जहाँ एक अघोष ध्वनि अपने साथ की ध्वनि के प्रभाव से घोष में बदल जाए वहाँ सघोषीकरण कहा जाता है, जैसे शकुन से सगुन, शाक से साग, अर्क से आख, हस्त से हाथ प्रकट से प्रगट (केवल उच्चारण में) आदि।

7. अघोषीकरण

जहाँ शब्द में कोई घोष ध्वनि अघोष ध्वनि में बदल जाए उसे अघोषीकरण कहा जाता है, जैसे, फारसी मदद से हिन्दी मदत।

8. मात्रा-भेद

जब किसी शब्द में कोई दीर्घ मात्रा ह्रस्व में अथवा ह्रस्व मात्रा दीर्घ में बदल जाती है उसे मात्रा भेद कहा जाता है, जैसे- संस्कृत का दुग्ध से दूध, पुत्र से पूत, अग्नि से आग, आषाढ से असाढ आदि।

9. अल्पप्राणीकरण

जहाँ कोई महाप्राण ध्वनि परिवर्तित हो कर अल्प प्राण ध्वनि हो जाए उसे अल्पप्राणीकरण कहते हैं जैसे, सिन्धु से हिन्दू भगिनी से बहिना, पाद से पाँव, कर्ण से कान आदि।

10. महाप्राणीकरण

जब किसी शब्द में अल्पप्राण ध्वनि महाप्राण में परिवर्तित हो जाए उसे महाप्राणीकरण कहा जाता है जैसे- गृह से घर, वन से बन, वाटिका से बाग, पादप से पेड़, वट से बड़।

11. ऊष्मीकरण

जब किसी शब्द में पहले से जो ध्वनि ऊष्म न हो और वह ऊष्म में परिवर्तित हो जाए तो उसे ऊष्मीकरण कहते हैं। केन्तुम औरशतम् वर्ग की भाषाओं में क्रमशः 'क' और 'श' या 'स' ध्वनियाँ ऊष्म में परिवर्तित हो गई हैं।

12. अनुनासिकीकरण

किसी शब्द में जो ध्वनि पहले अनुनासिक न हो किन्तु बाद में उसमें अनुनासिकता का समावेश हो जाए उसे अनुनासिकीकरण कहा जाता है, जैसे- ग्राम शब्द से गाँव, छाया शब्द से छाँव, सर्प से साँप, वाष्प से भाँप, श्वास से साँस, अश्रु से आँसू, हास्य से हँसी आदि।

13. भ्रामक व्युत्पत्ति

जब अज्ञानवश किसी अन्य भाषा के शब्द को अपनी भाषा की ध्वनियों में मनगढ़ंत ढंग से प्रयोग किया जाए उसे भ्रामक व्युत्पत्ति कहा जाता है जैसे अंग्रेजी भाषा का कण्डक्टर हिन्दी में 'कनक्टर' कलक्टर को 'कलट्टर', लार्ड से लाट आदि।

ध्वनि परिवर्तन के कारण

भाषा में ध्वनियों का परिवर्तन होने के कुछ कारण अवश्य रहते हैं क्योंकि कोई भी कार्य बिना किसी कारण के नहीं होता है। भाषा क्योंकि अनुकरण से सीखी जाती है अतः अनुकरण की अपूर्णता से ध्वनि परिवर्तन हो सकता है। संसार में सभी मनुष्यों की अनुकरण करने की शक्ति बुद्धि एक समान नहीं है, साथ ही सभी के उच्चारण अवयव भी एक जैसे नहीं हैं यही कारण है कि उच्चरित ध्वनियों में अन्तर उपस्थित हो जाता है। कभी-कभी मनुष्य शीघ्रता से बोलने के कारण भी ध्वनियों का उच्चारण ठीक प्रकार से नहीं करता और कभी कठिनाई से बोली जाने वाली ध्वनियों को सरल बना कर उच्चरित कर लेता है। अतः ध्वनि परिवर्तन के अनेक कारण हैं। जिनमें कुछ प्रमुख कारणों पर हम यहाँ चर्चा प्रस्तुत

करेंगे:-

ध्वनि-परिवर्तन के कारणों को हम दो वर्गों में रख सकते हैं:-

(क) आभ्यन्तर कारण, (ख) बाह्य कारण

(क) आभ्यन्तर कारण-

आभ्यन्तर कारण वे हैं जो व्यक्ति के भीतर निहित रहते हैं, जैसे-

1. मुख-सुख

ध्वनि परिवर्तन का सबसे महत्वपूर्ण कारण है बोलने में सुविधा लाना या भाषा वैज्ञानिक शब्दों में प्रयत्न लाघव अथवा मुख-सुख। पाणिनीय व्याकरण 'अच्', 'हल्' आदि प्रत्याहार प्रयत्न लाघव के उत्तम उदाहरण हैं। इस प्रकार के परिवर्तन में कहीं ध्वनि का लोप होता है, कहीं आगम जैसे- स्कंध का कंधा, स्थल से थल, धरित्री से धरती, गोधूम से गेहूँ, वेणु से बीन, वधू से बहू आदि। इस प्रकार घोषीकरण, अघोषीकरण, अल्पप्राणीकरण, महाप्राणीकरण, लोप, आगम आदि अनेक प्रकार के ध्वनि परिवर्तनों का कारण है प्रयत्न लाघव या मुख-सुख।

2. शीघ्र भाषा

क्षिप्र या शीघ्र भाषण करते समय व्यक्ति ध्वनियों का लोप या विपर्यय, आदि कर देता है जिससे ध्वनियों में परिवर्तन आ जाता है। जैसे- भ्रातृजाया से भौजाई और भौजी, बाबू जी से बाऊजी, मास्टर साहब से मास्साब, प्रोफेसर साहब से प्रोस्साब आदि।

3. अज्ञान और अशिक्षा

भाषा में परिवर्तन का एक कारण मनुष्यों का अज्ञान होता है। शिक्षा मनुष्य का अज्ञान दूर करती है, अतः शिक्षित व्यक्तियों की भाषा में उच्चारण दोष प्रायः देखने में नहीं आता परन्तु अशिक्षित व्यक्ति शब्द को मनमाने ढंग से बोल कर उसका स्वरूप परिवर्तन कर देते हैं। संस्कृत भाषा में उच्चारण की शुद्धि ही संस्कार है किन्तु साधारण जन की भाषा प्राकृत, पालि अपभ्रंश उच्चारण में निरन्तर परिवर्तित होती रही हैं। भाषा का यह परिवर्तन अज्ञान या अशिक्षा का परिणाम है। जैसे-यमुना का 'जमना', इडा का 'इंगला' युनिवर्सिटी का 'जूनावस्टी', रिपोर्ट का 'रपट', 'स्टेशन' का 'टेसन', 'ओम् नमः सिद्धम्' का 'ओ-नामासीधम'। चेम्सफोर्ड का 'चिलमफोड'। 'द्वादश' के मिथ्या सादृश्य पर एकदश का अज्ञानवश 'एकादश' करना आदि। अज्ञानजनित ध्वनि परिवर्तनों में मात्रा भेद, लोप, सघोषीकरण, अघोषीकरण, भ्रामक व्युत्पत्ति, मिथ्या सादृश्य आदि अनेक प्रकार के परिवर्तन आते हैं।

4. भावदशा या भावातिरेक

मानवीय भाषा में भाव की दशा अनेक ध्वनि रूपों को परिवर्तित कर देती है। भय-क्रोध, प्रेम, करुणा आदि भाव भाषा को प्रभावित करते हैं। लाड करती हुई माँ बेटी को 'बिटिया', बेटे को 'बबुआ' आदि कहती है। वधू से वधूटी, रामू का रमुआ, योगी से जोगिया, कृष्ण से कान्हा। इस प्रकार करुणा, क्रोध, प्रेम की भाषा में भाव के कारण कोमल और कठोर ध्वनियों का प्रयोग किया जाता है।

5. आत्म प्रदर्शन

वक्ता जब अपने को ज्ञानी सिद्ध करने के लिए बनावटी भाषा का प्रयोग करने लगता है उसे आत्म प्रदर्शन कहते हैं। जैसे, इच्छा का 'इक्षा', शाप का 'शराप' या 'श्राप', नमस्कार को 'नमश्कार', सेवक को 'शेवक', आलस्य को 'आलश्य' आदि। अपने को शिक्षित प्रकट करने के लिए अपने ज्ञान का प्रदर्शन करते हुए कई लोग अशुद्ध भाषा बोलने लगते हैं। यह ध्वनि परिवर्तन केवल अशिक्षित लोगों द्वारा किया जाता है। कुछ लोग सीधे सरल शब्दों को बनावटी और कठिन बना कर अपने को ज्ञानी सिद्ध करना चाहते हैं। अंग्रेजी में इस प्रवृत्ति को मैलाप्रोपिज़्म कहते हैं। 'अभियन्ता पुल बनवा रहा है।' इस वाक्य को "अभियन्ता शेतु का निर्माण करवा रहा है।" कह कर कभी-कभी लोग मज़ाक का पात्र बन जाते हैं। इंजीनियर शब्द हिन्दी के अभियन्ता की तुलना में सरल और प्रचलित है, परन्तु शुद्ध हिन्दी के मोह में कुछ लोग हिन्दी को दुरूह और कठिन बना देते हैं।

6. यादृच्छात्मक (काल्पनिक शब्द)

व्याकरण के नियमों का विचार न करते हुए जो शब्द केवल कल्पना से गढ़ लिए जाते हैं वे यादृच्छिक या काल्पनिक प्रयोग कहलाते हैं। प्रायः सादृश्य या समानता के आधार पर कई शब्दों का निर्माण कर लिया जाता है। जिनका कोई अर्थ नहीं होता, जैसे- रोटी-राटी, करना-धरना, पैसा-पूसा, जेवर-जूबर, पान-पून, भाई-वाई, औरत-ऊरत, खाट-वाट, खाट-खूट, घर-घूर, मान-मून, धन-वन, धूप-धाप आदि-आदि।

7. मात्रा, सुर, बलाघात

भाषा में बलाघात का बहुत महत्त्व है। इसके कारण एक शब्द या वाक्य के अनेक अर्थ हो जाते हैं तथा आसपास की दुर्बल ध्वनियाँ लुप्त हो जाती हैं अथवा परिवर्तित हो जाती हैं। जैसे- उपाध्याय से ओझा, भित्ति से भीत, दधि से दही, स्तन से थन, स्थापना, थापना काष्ठ से काठ आदि। इसी प्रकार कुछ अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं, जैसे- कुष्ठ कोढ़, प्रकोष्ठ से कोठा, बुभुक्षा से भूख (ह्रस्व 'उ' की मात्रा दीर्घ 'ऊ' में बदल गई है); भित्त से भीत (ह्रस्व 'इ' यहाँ दीर्घ 'ई' में बदल गई है), आदि। इस प्रकार बलाघात, मात्रा या सुर के प्रभाव से भी ध्वनियाँ परिवर्तित हो जाती हैं।

8. कलात्मक स्वतंत्रता (स्वच्छन्दता)

कवि या कलाकार एक प्रकार का स्रष्टा या विधाता होता है। अपनी कविता में भाषा के नये-नये प्रयोग करने के लिए वह स्वतंत्र होता है। कभी तो कवि भाषा में कोमलता, रस या माधुर्य आदि गुणों का समावेश करने के लिए विशेष प्रकार की भाषा का प्रयोग करता है और कभी वह शब्दों के स्वरूप में परिवर्तन ले आता है। शब्दों का स्वरूप स्वभावतः ध्वनियों से जुड़ा रहता है। कबीर की भाषा में शिष्य के स्थान सिख, सूर की भाषा में चरण के स्थान पर 'चरन', यशोदा के स्थान पर 'जसोदा' मणि के स्थान पर मनी आदि का प्रयोग करके भाषा को कोमल बनाया गया है। इस प्रकार कवि की भाव के अनुरूप भाषा में कलात्मक स्वतंत्रता उसकी अनेक ध्वनियों के परिवर्तन का कारण बन जाती है।

9. लिपि का अपूर्ण होना

किसी भाषा की लिपि में यदि पूरे ध्वनि-चिह्न हों तो उसमें परिवर्तन हो जाता है। जैसे फारसी में 'ण' नामक लिपि चिह्न होने के कारण 'कर्ण' को करन लिखा जाता है। इसी प्रकार 'प्र' लिपि चिह्न के अभाव में प्रकाश को 'परकाश' लिखा जाता है। फारसी के अतिरिक्त गुरुमुखी लिपि में भी आधे अक्षरों या संयुक्त व्यंजनों के लिए लिपि चिह्न न हाने के कारण पूरे अक्षर लिखने की परम्परा है। इससे गुरुमुखी लिपि में भी ध्वनि परिवर्तन हो जाता है, जैसे- सत्येन्द्र को गुरुमुखी में 'सतिन्दर' कहा जाएगा। स्कूल को गुरुमुखी में सकूल, 'स्टाफ' को सटाफ आदि कहा जाएगा।

इसी प्रकार रोमन लिपि में ध्वनि के अभाव में राम को रामा, कृष्ण को कृष्णा, मोहन को मोहना, आदि मावलीय को मालवीया लिखा जाता है। अनुनासिक ध्वनियों के स्थान पर -ं का प्रचलन भी लिपि दोष और ध्वनि दोष की सृष्टि करता है। आधुनिक हिन्दी भाषा की लिपि में सभी अनुनासिक ध्वनियाँ -ं से प्रकट की जाती हैं।

विदेशी ध्वनियों का अभाव कई भाषाओं की लिपियों में किसी किसी ध्वनि का अभाव होता है जिसके कारण उस ध्वनि की अभिव्यक्ति ध्वनि परिवर्तन का कारण बन जाती है जैसे अंग्रेज़ी भाषा में 'त' ध्वनि का अभाव होने से सर्वत्र 'त' के स्थान पर 'ट' का प्रयोग होता है। हिन्दी और संस्कृत की 'ण' ध्वनि अंग्रेज़ी में न (N) हो जाती है। अरबी भाषा की ग़, ज़, आदि ध्वनियाँ हिन्दी में 'ग, ज', हो जाती हैं। अरबी शब्द 'ज़रीना' हिन्दी में 'जरीना' हो जाता है। हिन्दी में इन ध्वनियों को अब यथावत् स्वीकार कर लिया गया है, परन्तु संस्कृत में ये ध्वनियाँ स्वीकृत नहीं हैं।

(ख) बाह्य कारण-बाहरी कारण जो ध्वनि में परिवर्तन ला देते हैं भौगोलिक परिस्थितियाँ आदि हैं।

1. भौगोलिक कारण

ध्वनियों के उच्चारण में भौगोलिक परिस्थितियाँ भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। जिन देशों-प्रदेशों में

अत्यन्त भयंकर शीत या ठंड रहती है वहाँ लोगों का उच्चारण ध्वनियों में संवृत अधिक रहता है तथा ग्रीष्म से पीड़ित प्रदेशों में ध्वनियों के उच्चारण में विवृत ध्वनियों का व्यवहार अधिक होगा। जिन प्रदेशों के व्यापारिक-सामाजिक सम्पर्क बाहरी प्रदेशों के व्यापारिक-सामाजिक सम्पर्क बाहरी देशों के लोगों से अधिक होते हैं उनकी भाषा में अनेक नवीन ध्वनियों का समावेश होकर वे भाषाएँ अधिक समृद्ध हो जाती हैं।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि ध्वनियों में परिवर्तन के अनेक कारण होते हैं। ऊपर वर्णित कारण तो केवल कुछ का ही संकेत करते हैं।

ध्वनि सम्बन्धी नियम

सर्वत्र सदैव बिना किसी परिवर्तन के परिस्थितियों और देश-काल के अन्तर से अप्रभावित रहने वाले घटना क्रमों को भौतिक या प्राकृतिक नियम कहते हैं। जब प्राकृतिक नियमों की भाँति ध्वनि या भाषा के क्षेत्र में देश-काल की परिस्थितियों से प्रभावित न होने वाली घटनाएँ या तथ्य होते हैं, उन्हें ध्वनि नियम कहा जाता है। प्राकृतिक या भौतिक नियमों के परिणाम जैसे संदेह रहित होते हैं, वे शाश्वत और अपरिवर्तनीय होते हैं, वे सर्वत्र एक जैसे होते हैं, भाषा या ध्वनि के क्षेत्र में पूर्णतः प्राकृतिक नियमों की भाँति एकरूपता का पाया जाना सम्भव नहीं है। प्राकृतिक नियम जैसे पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति सम्बन्धी है, इस नियम में कहीं पर कोई अपवाद या आशंका न होकर सर्वत्र एक ही परिणाम प्राप्त होता है। भाषा या ध्वनि के सम्बन्ध में जो नियम होते हैं वे उतने संदेह रहित नहीं कहे जा सकते।

देश-काल की सीमाओं में रह कर ध्वनि के सम्बन्ध में जो नियम बनाये जाते हैं वे ही ध्वनि नियम कहलाते हैं। जो देश काल की सीमा से रहित हैं वे ध्वनि नियम नहीं कहे जाते।

ध्वनि नियम की परिभाषा

ध्वनि-नियमों को परिभाषित करते हुए सुप्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक टी. जी. टकर ने अपनी पुस्तक में कहा है- “किसी भाषा का ध्वनि-नियम वह कथन है, जिसका सम्बंध भाषा विशेष की किसी एक ध्वनि या ध्वनि समूह में, विशेष काल तथा विशेष परिस्थितियों में होने वाले नियमित विकार से होता है।”

ठीक इसी प्रकार की विचार धारा व्यक्त करते हुए प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ. भोलानाथ तिवारी ने अपनी पुस्तक ‘भाषा-विज्ञान’ के अन्तर्गत लिखा है- “किसी विशिष्ट भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों में किसी विशिष्ट काल और कुछ विशिष्ट दशाओं में हुए नियमित परिवर्तन या विकार को उस भाषा का ध्वनि-नियम कहते हैं।

इन विद्वानों ने जो परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं उनमें ध्वनि-नियमों के कुछ विशिष्ट गुणों का संकेत मिलता है, जैसे-

1. यद्यपि भाषा के नियम प्राकृतिक नियमों की भाँति शाश्वत, व्यापक एवं देश-काल से परे नहीं होते, फिर भी भाषागत ध्वनियों में होने वाले परिवर्तन बहुधा नियमित ही होते हैं, इसी आधार पर ध्वनि-विज्ञान को विज्ञान कहा जाता है।
2. भाषिक ध्वनियों में होने वाले परिवर्तन जिस रूप में भूतकाल में हुए हैं, उसी रूप में भविष्य में भी होंगे ऐसी निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। भाषा-परिवर्तनशील तो हैं, परन्तु उसके परिवर्तन का भूत, भविष्य और वर्तमान काल में कोई निश्चित क्रम नहीं है। भूत काल के ध्वनि परिवर्तनों को आधार बना कर भविष्य के ध्वनि रूपों की कोई घोषणा नहीं की जा सकती, जबकि विज्ञान के नियम भूत, वर्तमान और भविष्य में एकरूपता को लिए हुए होते हैं।
3. किसी ध्वनि में जब एक बार परिवर्तन की प्रक्रिया का प्रारम्भ हो जाता है तो वह बिना रुके दिशा में बढ़ती चली जाती है, परिवर्तन कहीं भी रूकता नहीं है।
4. कोई भी ध्वनि-परिवर्तन अपने प्रारम्भिक काल में एक प्रवृत्ति के रूप में रहता है, परन्तु वह प्रवृत्ति जब स्थायी रूप ले लेती है तो उसे नियम मान लिया जाता है। उदाहरण के रूप में योरोपीय भाषा के 'स्' को ईरानी भाषा में 'ह' के रूप में उच्चारण करने की प्रवृत्ति रही होगी। (जैसे- सप्ताह से हफ्ता)। बाद में इस प्रवृत्ति के स्थायी या रूढ़ हो जाने पर इसे ध्वनि नियम कहा जाने लगा होगा।
5. कोई भी ध्वनि नियम अपने आस-पास की ध्वनियों से नियंत्रित रहता, क्योंकि उन्हीं को ध्यान में रख कर वह बनाया जाता है, भिन्न परिस्थितियों में वह काम नहीं करता। उदाहरण के लिए ग्रिस नियम का सम्बन्ध असंयुक्त ध्वनियों से है, संयुक्तध्वनियों से नहीं।
6. प्रत्येक ध्वनि नियम उस काल की ध्वनियों पर लागू होता है, किसी भिन्न काल की ध्वनियों पर उसका कोई प्रभावनहीं होता।
7. ध्वनि सम्बंधी कोई नियम अन्य देश की भाषा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। वह जिस क्षेत्र की भाषा को लेकर बना है केवल उसी पर लागू होता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि ध्वनि-नियम भौतिक विज्ञान के नियमों से भिन्न होते हैं, क्योंकि प्राकृतिक या भौतिक विज्ञान के नियम देश काल की दृष्टि से सार्वभौम और सार्वकालिक होते हैं, परन्तु ध्वनि-नियम सीमित काल व सीमित परिस्थितियों में ही काम करते हैं।

कुछ प्रसिद्ध ध्वनि नियमों का अध्ययन

मानवीय भाषाओं में प्रयुक्त होने वाली ध्वनियों से सम्बंधित नियम ही ध्वनि-नियम कहे जाते हैं। ध्वनि-नियमों में जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् याकोबी ग्रिम का बनाया हुआ ग्रिम-नियम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

ध्वनि-नियम के ही सन्दर्भ में ग्रिम के साथ-साथ ग्रासमान तथा वर्नर का नाम भी विख्यात हैं। इन दोनों विद्वानों ने ग्रिम-नियम की कुछ त्रुटियों को दूर, करके अपने संशोधन प्रस्तुत किये हैं।

ग्रिम के अतिरिक्त कुछ अन्य नियम भी माने जाते हैं, जैसे- तालव्य-नियम, मूर्धन्य नियम, ग्रीक-नियम लैटिन-नियम आदि। इन नियमों को हम निम्नलिखित ढंग से भी प्रस्तुत कर सकते हैं,

1. ग्रिम-नियम
2. ग्रासमान-नियम
3. वर्नर -नियम
4. तालव्य-नियम
5. मूर्धन्य-नियम
6. ग्रीक-नियम
7. लैटिन-नियम
8. फ़ारसी-नियम
9. प्राकृत-नियम

ऊपर दिये गये नियमों का अध्ययन इस प्रकार है-

1. ग्रिम-नियम

ग्रिम-नियम के अनुसार मूल भारोपीय भाषा की निम्नलिखित ध्वनियों को अंग्रेजी और जर्मन भाषा में ये ध्वनियाँ हो जाती हैं—(प्रथम को द्वितीय, १ को २) क्रमशः क् त् प् को ह् (ख), थ्, फ़। (चतुर्थ को तृतीय, ४ को ३) क्रमशः घ् ध् भ् को ग् द् ब्। (तृतीय को प्रथम, ३ को १) क्रमशः ग् द् ब् को क् त् प्।

2. ग्रासमान-नियम

मूल भारोपीय दो अक्षर वाली धातुओं में दो महाप्राण (ह्) ध्वनियाँ थीं। सामान्यतया प्रथम महाप्राण (ह्) ध्वनि हट जाती है। द्वितीय वर्ण में महाप्राण (ह्) ध्वनि हटने पर प्रथम वर्ण में महाप्राण ध्वनि रहती है।

3. वर्नर-नियम

यह ग्रिम नियम का संशोधन है। यदि मूलभाषा में क् त् प् आदि से पूर्व उदात्त स्वर होगा तो ग्रिम नियमानुसार प्रथम वर्ण परिवर्तन नियम लगेगा। यदि उदात्त स्वर क् त् प् के बाद होगा तो क् त् प् को ग् द् ब् होगा।

4. तालव्य-नियम

ग्रिम-नियम के बाद ध्वनि सम्बन्धी जो महत्त्वपूर्ण नियम है वह तालव्य-नियम कहलाता है। इस नियम की खोज सन् 1875 ई. के लगभग थॉम्सन तथा कॉलरिज आदि विद्वानों द्वारा की गई। इस नियम में स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार मूल यूरोपीय भाषा की कण्ठोष्ठ्य तथा शुद्ध कण्ठ ध्वनियाँ भारत ईरानी शाखा में कहीं चवर्ग ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती हैं और कहीं क वर्ग ही बनी रहती हैं। नियम मूल यूरोपीय भाषा की कण्ठोष्ठ्य तथा शद्ध कण्ठ ध्वनियाँ ('क्व', ग्व आदि तथा क्ग् आदि) आने पर भारत-ईरानी-शाखा में च वर्ग (तालव्य) ध्वनियों (च्, ज् आदि) में परिवर्तित हो जाती हैं। अन्यथा क वर्ग ही बनी रहती हैं।

5. मूर्धन्य-नियम

संस्कृत भाषा की एक बड़ी विशेषता है उसकी मूर्धन्य ध्वनियाँ। पाणिनी ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में इस बात पर प्रकाश डाला है कि इन मूर्धन्य ध्वनियों का विकास किस प्रकार से हुआ है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार दन्त्य 'स्' तथा 'न' को क्रमशः 'ष्' तथा 'ण' होता है। अष्टाध्यायी के एक प्रसिद्ध नियम के अनुसार इ, ई, उ, ऊ ऋ, ए, ओ स्वर के बाद आने वाला दन्त्य 'स्' का 'ष्' हो जाता है, जैसे- नदीष्, गुरुष्, तथा रामेष आदि में यही नियम दृष्टिगत होता है।

ऐसे ही संकेतों को आधार बनाते हुए 'पूट' एवं फॉरटुनेटोव नामक भाषाविदों ने मूर्धन्य नियम की उदभावना की है। इस नियम से ऋ, र्, ल् के बाद आने वाली दन्त्य ध्वनियाँ संस्कृत भाषा में मूर्धन्य हो जाती हैं, यथा-

1. वैदिक कर्त से काट (गहराई)
2. संकृत से संकट
3. विकृत से विकट
4. कृत से कट (चटाई)
5. वैदिक ऋध् से आढ्य आदि।

इस नियम को फॉरटुनेटोव के नाम पर फॉरटुनेटोव नियम भी कहा जाता है, किन्तु अनेक ऐसे विद्वान् हैं, जिन्होंने इस नियम में अनेक अपवादों को देख कर इसे अस्वीकार कर दिया है। इन विद्वानों में 'बुर्गमैन', 'बार्थोलोमे' एवं वाकर नागल आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। संस्कृत के 'मृदु' एवं गर्दम आदि शब्दों में यह नियम काम करता नहीं दिखाई देता। इस प्रकार मूर्धन्य नियम को हम आंशिक स्वीकृति के योग्य नियम कह सकते हैं, पूर्णतः स्वीकार किये जाने योग्य नहीं कह सकते।

6. ग्रीक-नियम

मूल यूरोपीय भाषा के शब्दों में दो स्वरो के मध्य आने वाली 'स्' ध्वनि ग्रीक में पहले 'ह' हो जाती है और बाद में लुप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ-

मूल भारोपीय भाषा	ग्रीक भाषा
Generos	Geneos

7. लैटिन-नियम

इस नियम के अनुसार मूल भारोपीय भाषा के शब्दों में दो स्वरो के मध्य आने वाली 'स्' ध्वनि लैटिन में 'र्' हो जाती है, जैसे-

मूल भारोपीय भाषा	लैटिन
Generos	Geneos

8. फारसी-नियम

फारसी भाषा का नियमानुसार संस्कृत की 'स्' तथा 'ग्' ध्वनियों फारसी में क्रमशः 'ह' तथा 'ज़' के रूप में मिलती हैं। उदाहरणार्थ:-

संस्कृत	फारसी
सप्त	हफ्त
दश	दह
जाता (पुत्र)	ज़ादह
सिंधु	हिन्दु

9. प्राकृत-नियम

प्राकृत भाषा के नियम के अनुसार संस्कृत की 'व्', 'य्' आदि ध्वनियाँ प्राकृत में ब्, ज् आदि में परिवर्तित हो जाती हैं।

संस्कृत	प्राकृत
वचन	बचन
विद्युत	बिज्जु

वेलि	बेलि
विवाह	बियाह
युवती	जुवती
संयम	सजंम

इन प्रसिद्ध ध्वनि-नियमों के अतिरिक्त 'ओष्ठ्य नियम' आदि अन्य अनेक ध्वनि-नियमों की विद्वानों ने चर्चा की है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि ध्वनि-विज्ञान के नियम भाषा के विकास का अध्ययन करने की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण है। इन नियमों की सहायता से हम भाषा के प्राचीनतम रूपों को आधुनिक रूप तक वे किन सोपानों को पार कर बने हैं, यह जान सकते हैं।

3.4. पद-विज्ञान(रूप-विज्ञान)

शब्द तथा पद का अन्तर

शब्द और पद में साधारणतः कोई अंतर नहीं किया जाता और 'शब्द' के लिए पद का व्यवहार कर लिया जाता है, परन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इनमें जो अन्तर है, उसे संस्कृत वैयाकरणों ने सदैव ध्यान में रखा है। अपनी अष्टाध्यायी के (1-4-14) सूत्र में पाणिनि "सुबन्त और तिङन्त" को पद कहते हैं।

डॉ. भोलानाथ तिवारी 'शब्द' और 'पद' में अन्तर बताते हुए अपना मत इस प्रकार प्रकट प्रस्तुत करते हैं

'पद' शब्द पर ही आधारित होते हैं, अतः पहले संक्षेप में शब्द-रचना विचारणीय है। एकाक्षर परिवार की भाषाओं में शब्द की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। उनमें तो केवल एक ही इकाई होती है, जिसमें विकार कभी नहीं होता और जिसे धातु, शब्द या पद सब कुछ कह सकते हैं। कुछ प्रक्षिष्ट योगात्मक (पूर्ण) भाषाओं में पूरे वाक्य का ही शब्द बन जाता है, ऐसे शब्दों पर भी यहाँ विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका रूप मात्रा ही शब्द-सा है। वे असल में वाक्य ही हैं। ये वाक्य जिन शब्दों से बनते हैं, वे भी एक प्रकार से बने-बनाये शब्द हैं। अतः उन पर भी विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। शेष अधिकतर भाषाओं में शब्द की रचना धातुओं में पूर्व, मध्य या पर (आरम्भ बीच या अन्त में) प्रत्यय जोड़कर होती है। भारोपीय परिवार की भाषाओं में शब्द की रचना बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें प्रत्येक शब्द का विश्लेषण धातुओं तक किया जा सकता है। (सेमेटिक परिवार में भी यही बात है।) धातुएँ विचारों की द्योतिका होती हैं। शब्द बनाने के लिए उनमें उपसर्ग (पूर्व प्रत्यय) और प्रत्यय दोनों ही आवश्यकतानुसार जोड़े जाते हैं। उपसर्ग जोड़ने से शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, जैसे विहार, संहार, परिहार आदि में। प्रत्यय जोड़कर भी अर्थ के 'शब्द' या 'पद' बनाए जाते हैं जैसे 'कृ' धातु में तृच् प्रत्यय जोड़ने से कर्तृ शब्द बना। प्रत्यय भी दो प्रकार के होते हैं। एक, जो सीधे धातु में जोड़ दिये जाते हैं

उन्हें तिङ् या कृत् कहते हैं। दूसरे को 'तद्धित' कहते हैं। तद्धित को धातु में कृत् प्रत्यय जोड़ने के बाद जोड़ा जाता है।

थोड़ी गहराई में उतरकर देखा जाय तो कोश में दिये गये सामान्य 'शब्द' और वाक्य में प्रयुक्त 'शब्द' एक नहीं है। वाक्य में प्रयुक्त शब्द में कुछ ऐसा भी होता है, जिसके आधार पर वह अन्य शब्दों से अपना संबंध दिखला सके या अपने को बांध सके। लेकिन 'कोश' में दिये गये 'शब्द' में ऐसा कुछ नहीं होता। यदि वाक्य के शब्द एक दूसरे से अपना संबंध न दिखला सकें तो वाक्य बन ही नहीं सकता। इसका आशय यह है कि शब्दों के दो रूप हैं। एक तो शुद्ध रूप हैं या मूल रूप हैं जो कोश में मिलता है और दूसरा वह रूप है जो किसी प्रकार के संबंधतत्त्व से युक्त होता है। यह दूसरा, वाक्य में प्रयोग के योग्य रूप ही 'पद' या 'रूप' कहलाता है। संस्कृत में 'शब्द' या मूल रूप को 'प्रकृति' या 'प्रातिपदि' कहा गया है और सम्बन्धस्थापन के लिए जोड़े जाने वाले तत्त्व को 'प्रत्यय'। महाभाष्यकार पतंजलि कहते हैं: नापि केवला प्रकृतिः प्रयोक्तः नापि केवल व्याः प्रत्ययः। अर्थात् वाक्य में न तो केवल 'प्रकृति' का प्रयोग हो सकता है न केवल 'प्रत्यय' का। दोनों मिलकर प्रयुक्त होते हैं। दोनों के मिलने से जो बनता है वही पद या 'रूप' है। पाणिनि के 'सुप्तिङन्तं पदं' (सुप और तिङ्, जिनके अंत में हो वे पद होते हैं) में भी पद की परिभाषा यही है। यहाँ प्रत्यय या विभक्ति को सुप और तिङ् (सुप तिङ्गै विभक्ति संज्ञौ स्तः) कहा गया है। उदाहरण के लिए 'पत्र' शब्द को लें। यह एक प्रातिपदिक मात्रा है। संस्कृत के किसी वाक्य में इसे प्रयोग करना चाहें तो इसी रूप में हम इसका प्रयोग नहीं कर सकते। वैसा करने के लिए इसमें कोई संबंधसूचक विभक्ति जुड़ी होगी। जैसे 'पत्रं पतति' (पत्ता गिरता है)। अब यहाँ हम स्पष्ट देख रहे हैं कि शुद्ध शब्द 'पत्र' है और वाक्य में प्रयोग करने के लिए उसे 'पत्रं' का रूप धारण करनाअर्थात् 'पत्र' शब्द है और 'पत्रम्' पद।

पद-विभाग

यास्क ने निरुक्त में पद को चार भागों में विभक्त किया है। इसको आधुनिक ढंग से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

1. नाम- संज्ञा शब्द (राम, रमा, बालक आदि)
2. आख्यात- क्रिया शब्द (जाना, खाना आदि)
3. उपसर्ग- सम्बद्ध अव्यय (प्र, उप, सम् आदि)
4. निपात- अव्यय शब्द (च, वा, इव, हि आदि)

यास्क ने पद के चार विभागों के उल्लेख में नाम और आख्यात (नामाख्याते) को एक साथ लिखा है और उपसर्ग तथा निपातको (उपसर्ग-निपातश्च) अलग दिया है। इससे स्पष्ट है कि पद-विभागों में नाम और आख्यात ही मुख्य हैं, अतः इसे एकसमस्त पद में दिया गया है। उपसर्ग और निपात को कम महत्त्वपूर्ण

समझकर इसे पृथक् दिया है। सामान्यतया पद के ये 4 भाग प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में भी स्वीकार किए गए हैं। पाणिनि ने सुप्तिङन्तं पदम् (अष्टा0 1-4-14) में पद को केवल दो भागों में विभक्त किया है। सुबन्त (नाम), तिङन्त (आख्यात)। भर्तृहरि ने वाक्यदीय में विशेष रूप से उल्लेख किया है कि प्राचीन दो आचार्य वार्ताक्ष और औदुम्बरायण पद के दो विभाग मानते थे। यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जायतो नाम और आख्यात यही दो तत्त्व मुख्य हैं। उपसर्ग स्वतन्त्र रूप से अर्थ के वाचक नहीं है, अपितु निर्बद्ध (बद्ध) होकरही अर्थ के द्योतक होते हैं। अतः वैयाकरणों ने उपसर्ग को वाचक न मानकर केवल द्योतक (प्रकाशक) माना है। इसमें कोईपरिवर्तन नहीं होता है, अतः इसे अव्यय कहते हैं। उपसर्ग और निपात में अन्तर यह है कि निपात का प्रयोग स्वतन्त्र भी हो सकता है। पाणिनि ने उपसर्ग और निपात को भी सुबन्त में लिया है। अतः इनके बाद की कारक-विभक्तियों का लोपदिखाया है।

भर्तृहरि ने प्राचीन मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि आचार्यों ने पद के दो, चार और पाँच भेद माने हैं। उन्होंने पाँचवाँ भेद कर्मप्रवचनीय भी दिया है। वस्तुतः कर्मप्रवचनीय वे शब्द हैं जो पहले क्रिया के बोधक थे (कर्म-क्रिया, प्रवचनीय कहनेवाले अर्थात् जो क्रिया-बोधक थे), किन्तु प्रयोग से घिसने के कारण केवल उपसर्ग आदि के रूप में शेष रह गए। भाषाशास्त्र की दृष्टि से पाणिनि का पद-विभाजन सर्वश्रेष्ठ है। संज्ञा और क्रिया, ये दोनों ही मुख्य हैं। व्यावहारिक सुविधाके लिए ही नाम से उपसर्ग और निपात को पृथक् किया गया है। हिन्दी में पद-विभाग अंग्रेजी व्याकरण के आधार पर किया गया है। कामता-प्रसाद गुरु ने हिन्दी के 8 पद-विभाग किए हैं- संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण, संबंध-सूचक, समुच्चय-बोधक, विस्मयादि बोधक। अंग्रेजी का पद-विभाग वस्तुतः लैटिन से लिया गया है। यह विभाजन अंग्रेजी के लिए भी संगत नहीं माना जाता है। परम्परा के आधार पर अनावश्यक एवं अनुपयुक्त होने पर भी, यह 8 प्रकार का पद-विभाग हिन्दी में माना जाता है। वस्तुतः इन आठ विभागों को 3 विभागों में समाहित किया जा सकता है।

1. नाम- संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण। ये संज्ञा के ही विभिन्न रूप हैं। नाम में इनका अन्तर्भाव होता है। पाणिनि ने इनको सुबन्त में रखा है।
2. आख्यात या तिङन्त- क्रिया-शब्द।
3. अव्यय- इसमें क्रिया-विशेषण (जब, तब, कहाँ, जैसा आदि), संबंध-सूचक (को, ने, से आदि), समुच्चय-बोधक (और, अथवा, किन्तु आदि), विस्मयादि-बोधक (ओह, आह, छिः आदि), ये चारों भेद समाहित होते हैं। इस प्रकार आठ भेदों को तीन भेदों में लिया जा सकता है।

व्याकरणिक कोटियाँ

भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का आश्रय लिया जाता है। भाषा में वाक्य ही वह लघुतम इकाई है, जो भावों को व्यक्त करने में समर्थ होता है। प्रत्येक वाक्य में पद-विभाग की कोटियाँ सम्मिलित रहती हैं।

इनके परस्पर संबंध को बताने के लिए सम्बन्ध-तत्त्वों की आवश्यकता पड़ती है। संबंधतत्त्व जिन भावों की अभिव्यक्ति करते हैं, वे हैं-लिंग, वचन, पुरुष, काल,वृत्ति (मूड), कारक आदि। लिंग, वचन आदि को व्याकरणिक कोटियाँ कहते हैं। इनका कार्य है-भाषा में अभिव्यंजना-संबंधी सूक्ष्मता और निश्चयात्मकता लाना। इनके लिए ही संबंध-तत्त्वों का प्रयोग किया जाता है।

व्याकरणिक कोटियों के विषय में तीन बातें उल्लेखनीय हैं-

1. प्रत्येक भाषा के शब्द-निर्माण और रचना-पद्धति में भेद होता है। संस्कृत, चीनी, अरबी तथा अंग्रेजी में रचना-पद्धति भिन्न है।
2. प्रत्येक भाषा की व्याकरणिक कोटियाँ काल-सापेक्ष हैं। कालक्रमानुसार इन कोटियों में परिवर्तन होता रहता है। जैसे-संस्कृत के तीन लिंग और तीन वचन के स्थान पर प्राकृत और अपभ्रंश में दो लिंग, दो वचन शेष रहे।
3. प्रत्येक भाषा के गठन के आधार पर व्याकरणिक कोटियों का निर्माण और वर्गीकरण होता है। इसके आधार पर ही भाषा का विवेचन और विश्लेषण होता है तथा नये शब्दों के निर्माण में इनसे सहायता मिलती है।

1. लिंग

लिंग का अर्थ है-चिह्न, जिससे किसी वस्तु को पहचाना जा सके। लिंग दो प्रकार के हैं- 1. प्राकृतिक या जन्म-सिद्ध, 2. व्याकरणिक। प्राकृतिक लिंग में पुरुष और स्त्री का कुछ अवयव-संस्थानों के द्वारा निर्णय किया जाता है। स्तन, केश आदि के द्वारा स्त्री। रोम, मूँछ आदि के द्वारा पुरुष। इन दोनों के अभाव में नपुंसक। व्याकरणिक लिंग प्राकृतिक लिंग का अनुसरण अनिवार्य रूप से नहीं करते हैं। प्रत्येक भाषा में इसके अपवाद मिलते हैं। सामान्यतया तीन लिंग संस्कृत, जर्मन आदि भाषाओं में प्रचलित हैं। इनके लिए अलग चिह्न भी निर्दिष्ट हैं। इनके नाम हैं-पुंलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसक लिंग। कोई भी भाषाशास्त्री आज तक इस कार्य में सफल नहीं हो सकता है कि वह शब्दों के लिंग-निर्णय का कोई उचित आधार बता सके।

यदि संस्कृत भाषा का उदाहरण लें तो इसमें पत्नी के तीनों लिंगों के शब्द हैं। जैसे, दार (पत्नी) पुंलिंग बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है, दाराः, दारान् (पत्नी)। स्त्री, नारी, पत्नी, भार्या आदि स्त्रीलिंग में आते हैं। कलत्रम् (पत्नी) नपुंसक लिंग है। इस प्रकार पत्नी के लिए तीनों लिंग में शब्द मिलते हैं। प्राकृतिक दृष्टि से केवल स्त्रीलिंग होना चाहिए था। इसी प्रकार निर्जीवजल के लिए आपः (जल, स्त्रीलिंग, बहु०), जलम्, नपुंसक लिंग।

2. वचन

संस्कृत में तीन वचन होते हैं-एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। वैदिक और लौकिक संस्कृत में द्विवचन का

प्रयोग है। प्राचीनफारसी और अवेस्ता में इसका अत्यधिक व्यवहार होता था। प्राचीन स्लावी में यह अभी तक प्रयोग में आता है। केल्टी भाषामें केवल आयरी के प्राचीन रूपों में द्विवचन मिलता है। लिथुआनी आदि भाषाओं में भी द्विवचन मिलता है। इस द्विवचन का धीरे-धीरे लोप हो गया है। पालि, प्राकृत आदि में द्विवचन नहीं है। ग्रीक आदि में भी द्विवचन का लोप हो गया है। लैटिनमें द्विवचन प्रारम्भ से नहीं था। हिन्दी में द्विवचन नहीं है। सम्भवतः हाथ, आँख, नाक, कान, पैर आदि के जोड़े को देखकर द्विवचन की कल्पना हुई थी, परन्तु बाद में इसके कम प्रयोग को देखकर, इसे व्याकरण से हटाया गया। इसके लिए दोशब्द का प्रयोग होने लगा। दो आँख, दो कान आदि। संस्कृत में इसके लिए युग, युगल, द्वय, द्वयी आदि शब्द प्रयोग में आने लगे। जैसे-करयुगम्, करयुगलम्, करद्वयम्, करद्वयी (दो हाथ), आदि।

3. पुरुष

भाषा में पुरुष की कल्पना का आधार है-1. वक्ता, 2. श्रोता, 3. इनसे भिन्न व्यक्ति या वस्तु-प्रथम या अन्य पुरुष। संस्कृत और अंग्रेजी में क्रिया के रूप चलाने में मौलिक अन्तर है। संस्कृत में क्रम हैं-प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष एवं उत्तम पुरुष-वह, तू, मैं। अंग्रेजी में इसके विपरीत क्रम हैं-उत्तम पुरुष (First Person), मध्यम पुरुष (Second Person), अन्य पुरुष (Third Person)। यह क्रम-भेद दोनों भाषाओं का मनोवैज्ञानिक अन्तर बताता है। संस्कृत में क्रम में अन्य पुरुष (वह) ब्रह्म, ईश्वर आदि का बोधक है, अतः ब्रह्म को क्रिया में प्रधानता दी गई है। अतः उसके पश्चात् श्रोता को द्वितीय स्थान पर रखा गया है। वक्ता या मैं को अन्तिम स्थान दिया गया है। इसके विपरीत अंग्रेजी में 'मैं' और 'हम' को सर्वप्रथम रखा गया है। 'वह' को अन्त में।

4. कारक

पतंजलि ने (महाभाष्य 1-4-23) 'कारक' की व्याख्या की है कि-कारक अन्वर्थ (सार्थक) शब्द है। कारक का अर्थ है-'करोति इति कारकम्'। जो क्रिया का निष्पादक होता है, उसे कारक कहते हैं। कैयट और भर्तृहरि का कथन है कि क्रिया साध्य है और कारक साधन है। इस प्रकार क्रिया को सिद्ध करने वाले को 'कारक' कहते हैं। संस्कृत व्याकरण के अनुसार सात कारक माने गए हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण और सम्बोधन। सम्बन्ध या षष्ठी को कारक नहीं माना जाता है, क्योंकि क्रिया की सिद्धि में उसका साक्षात् योग नहीं होता है। जैसे-राज्ञः पुरुषः आगच्छति (राजा का पुरुष आता है), इसमें राजा का संबंध पुरुष से है, न कि क्रिया से। गंगा का जल मधुर है, में गंगा का संबंध जल से है, क्रिया से नहीं। सम्बोधन को भी प्रथमा एकवचन का सम्बोधन का रूप माना जाता है। उसकी भी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इस प्रकार 6 कारक ही होते हैं। कुछ प्राचीन आचार्यों ने सम्प्रदान और अपादान को भी क्रिया से साक्षात् सम्बद्ध न मानकर कारकों की संख्या केवल चार मानी है। अतएव कारकत्व की पहचान 'कृ' धातु केवल चार कारकों में है-कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण। कारकों की संख्या विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न

है। अंग्रेजी में दो कारक हैं। लैटिन और जर्मन में पाँच। प्राचीन स्लाविकमें छः, संस्कृत ग्रीक और लिथुआनी में सात, हिन्दी में आठ और जार्जी भाषा में 23 कारक हैं।

5. क्रिया

विभिन्न आधारों को लेकर क्रिया के अनेक भेद किए गए हैं। जैसे-कर्म का होना या न होना; क्रिया के फल का भोक्ताकौन है; क्रिया की पूर्णता-अपूर्णता; क्रिया की निरंतरता या उसका अभाव आदि। भारोपीय परिवार की भाषाओं में ये भेदमिलते हैं:-

(क) सकर्मक-अकर्मक-जिस क्रिया में कर्म होता है, उसे सकर्मक कहते हैं। जिसमें कर्म नहीं होता, उसे अकर्मक कहते हैं। कर्म का भाव (होना) और अभाव ही इनके भेद का आधार है। वान्द्रीएज़ का यह कथन उपयुक्त है कि-‘सकर्मक और अकर्मक क्रियाओं का भेद सम्भवतः निम्नलिखित ढंग से अधिक स्पष्टतया समझ में आ सकता है, क्योंकि सकर्मक का अर्थ ही यह है कि उसमें कर्म होना चाहिए, अतः उन सभी क्रियाओं को सकर्मक कहना चाहिए जिनके कार्य के उद्देश्य की सूचना वाक्य में रहे और इसके विरुद्ध अकर्मक उनको कहना चाहिए जिनका प्रयोग बिना कर्म की अभिव्यक्ति के हो। भारोपीय परिवार की विभिन्न भाषाओं में सकर्मक और अकर्मक के भेदका आधार सुनिश्चित नहीं है। लैटिन में वह क्रिया सकर्मक है, जिसमें कर्म के साथ कर्म कारक का प्रयोग हो। फ्रांसीसी में उस क्रिया को सकर्मक कहते हैं, जिसके तुरन्त पश्चात् कर्म आये। विभिन्न भाषाओं में एक ही भावको किसी भाषा में सकर्मक तो किसी में अकर्मक क्रियाओं द्वारा व्यक्त किया जाता है। संस्कृत में भी कुछ धातुएँ सकर्मक होते हुए भी, कर्म का प्रयोग न होने के कारण, अकर्मक मानी जाती हैं। जैसे-नदी वहति, (नदी बहती है), मेघः वर्षति (बादल बरसता है), हितान् न शृणोति (हितकारी की बात नहीं सुनता है)। सामान्यता वह, वृष् और श्रु धातुएँ सकर्मक हैं।

(ख) आत्मनेपद-परस्मैपद-संस्कृत में कर्मफल के भोक्ता के आधार पर दो पद माने जाते हैं:- (1) आत्मनेपद-‘आत्मने’का अर्थ है-अपने लिए। अतः आत्मनेपद का अर्थ होता है कि जिस क्रिया का फल कर्ता को स्वयं मिलता है। जैसे-भोजनं कुरुते (भोजन करता है), कर्ता को भोजन क्रिया का फल मिलता है। (2) परस्मैपद-यदि फल का भोक्ता कोई दूसरा व्यक्ति हो तो परस्मैपद होता है। जैसे-पुत्राय मोदकम् आनयति (पुत्र के लिए लड्डु लाता है), शिष्याय फलं ददाति, फल का भोक्ता दूसरा है, अतः परस्मैपद हुआ। जिन धातुओं से दोनों पद होते हैं, उन्हें उभयपदी कहते हैं। संस्कृत के परकालीन साहित्य में दोनों पदों का यह भेद लुप्त हो गया और दोनों पद समानरूप से प्रयुक्त होने लगे। जैसे- सः कार्यं करोति कुरुते वा (वह काम करता है)।

(ग) वाच्य- भारोपीय भाषाओं में तीन वाच्य मिलते हैं:- कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य। क्रिया में कर्ता की प्रधानता होने पर कर्तृवाच्य, कर्म की प्रधानता होने पर कर्मवाच्य और केवल भाव या क्रिया (व्यापार) की प्रधानता होने पर भाववाच्य। जैसे-

कर्तृवाच्य- रामः गृहं गच्छति (राम घर जाता है)

कर्मवाच्य- रामेण गृहं गम्यते (राम के द्वारा घर जाया जाता है)

भाववाच्य- रामेण सुप्यते (राम के द्वारा सोया जाता है)

सकर्मक क्रिया के दो वाच्य होते हैं-कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य। अकर्मक क्रिया का कर्मवाच्य नहीं होता है, केवलकर्तृवाच्य और भाववाच्य होते हैं। जैसे-सः स्वपिति (वह सोता है), तेन सुप्यते (उसके द्वारा सोया जाता है)। भाव-वाच्य में संस्कृत में क्रिया में केवल प्रथम पुरुष एकवचन का प्रयोग होता है और शब्द में नपुंसक लिंगएकवचन। जैसे-तेन पठ्यते, तेन पठितव्यम्। संस्कृत में कार्य की सरलता के आधार पर कर्म को कर्ता मानकर कर्म-कर्तृवाच्य नाम दिया गया है। इसमें क्रिया कर्मवाच्य के तुल्य रहती है और कर्ता कर्तृवाच्य के तुल्य प्रथमामें। जैसे-पच्यते ओदनः (भात पकता है), भिद्यते काष्ठम् (लकड़ी फटती है)।

भारोपीय परिवार की अधिकांश भाषाओं में कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य की क्रिया की भावना प्रयत्नमात्र है। कर्मवाच्य से प्रायः ऐसी क्रिया का बोध होता है जो समाप्त हो गई हो। अतएव फ्रांसीसी में ऐत्र (होना) धातु की सहायता के बिना कई क्रियाएँ भूतकाल के अर्थ का बोध नहीं करा सकती हैं। यही बात लैटिनमें भी थी। लैटिन में कर्मवाच्य का एक अन्य प्रयोग भी था, जिसकी अवैयक्तिक वाच्य या भाववाच्य कहा जाता है।

6. काल

काल के सामान्यतया तीन भेद किए जाते हैं-1. वर्तमान, 2. भूत, 3. भविष्यत्। इसका आधार है-कार्य की निष्पत्तिके होने का समय। यदि घटना अब की है तो वर्तमान काल, पहले की है तो भूतकाल, आगे होने वाली हो तो भविष्यत्काल। इन कालों की क्रिया की पूर्णता अपूर्णता आदि, प्रकार या वृत्ति (मूड) के आधार पर अनेक भेद उपभेद हो गए हैं। प्रत्येक भाषा में काल की धारणा भिन्न-भिन्न है। काल के लिए टेन्स शब्द का प्रयोग होता है और प्रकार या वृत्ति के लिए मूड शब्द। संस्कृत में दोनों के लिए 'लकार' शब्द का प्रयोग होता है। संस्कृतमें 10 लकार हैं। इनको काल और वृत्ति के विभाजन के अनुसार इस प्रकार कहा जाएगा। (1) वर्तमान-लट्, (2) भूतकाल-तीन प्रकार का है- (क) सामान्यभूत-लुङ्, (ख) अनद्यतन (आज का न हो) भूत-लङ्, (ग) परोक्ष-भूत-लिट्। (3) भविष्यत्-तीन प्रकार का है- (क) सामान्य भविष्यत्-लृट्, (ख) अनद्यतन भविष्यत्-लुट्, (ग) हेतुहेतुमद् भविष्यत्-लृङ्। इसके अतिरिक्त 3 वृत्तियाँ हैं- (1) आज्ञा अर्थ-लोट् (2) चाहिए अर्थ-विधिलिङ्, (3) आशीर्वाद अर्थ-आशीर्लिङ्। वेदमें लेट् लकार का प्रयोग आता है। यह अभिलाषा, सम्भावना, विधि (आज्ञा) या प्रार्थना अर्थ में होता है। हिन्दी में तीन काल हैं-वर्तमान, भूत, भविष्य।

पद (रूप) परिवर्तन की दिशाएँ

प्रधान रूप से डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने रूप परिवर्तन की दो दिशाएँ बताई हैं:

1. सरलीकरण-हेतु समरूपता,
2. संदेहनिवारणार्थ नए रूपों की उत्पत्ति।

1. सरलीकरण-हेतु समरूपता

विभिन्न भाषाओं के प्राचीन और नवीन व्याकरणों को देखने से ज्ञात होता है कि विश्वकी प्रायः सभी भाषाओं के प्राचीन व्याकरणों में शब्दरूपों और धातुरूपों की संख्या बहुत अधिक थी। अपवाद-नियमों की संख्या भी बहुत थी। वचन, कारक और लकारों या वृत्तियों की संख्या अधिक थी। बाद में सरलीकरण के हेतु अपवादों की संख्या कम या सर्वथा समाप्त कर दी गई। इससे जन-साधारण अपवादों के उलझन में न फँसकर सामान्य नियमानुसार प्रयोग करने लगा। जैसे-वैदिक संस्कृत में-शब्दरूपों में प्र० बहु० में देवाः, देवासः और तृतीया बहु० में देवैः, दवेभिः आदि दो-दो रूप प्रचलित थे। संस्कृत व्याकरण में केवल प्र० बहु०-देवाः और तृ० बहु० देवैः रूप रह गए। इसी प्रकार इकारान्त उकारान्त आदि शब्दों के रूपों में बहुत वैकल्पिक रूप थे। इनको हटाकर संस्कृत में एक-एक रूप रह गए। प्राकृत में द्विवचन का सर्वथा अभाव हो गया। चतुर्थी का अभाव हो गया। प्रथमा और द्वितीया बहुवचन के रूप प्रायः एक हो गए। धातुरूपों लङ् और लिट् लकारों का अभाव हो गया। आत्मनेपदी रूपों का भी प्रायः अभाव हो गया। अधिकांश शब्दरूप अकारान्त राम आदि के तुल्य चलने लगे। हलन्त शब्दों के अन्तिम अक्षरों का या तो लोप हो गया या उनको अकारान्त बनाकर राम के तुल्य रूप चले-जैसे-धनवत् का धनवन्त, श्रीमत् का श्रीमन्त बनाकर राम के तुल्य रूप चले। क्रिया-रूपों में दस गणों के स्थान पर केवल दो गण शेष रहे। भ्वादिगण और चुरादिगण शेष रहे। दोनों गणों के रूप समान ही चलते हैं। हिन्दी में आते-आते कारक-चिह्न सुप् के स्थान पर स्वतन्त्र कारक-चिह्न लगने लगे। इससे शब्दरूप चलाने का झंझट समाप्त हो गया। इसी प्रकार धातु-रूपों के लिए तिङ् के स्थान पर परसर्ग ता, था, आदि काल-चिह्न प्रयुक्त होने लगे। इससे धातुरूप चलाने की आवश्यकता समाप्त हो गई।

संदेह-निवारणार्थ नए रूपों की उत्पत्ति

सरलीकरण के द्वारा अनेक रूपों के स्थान पर समान रूप हो जाने के कारण संदेह और भ्रम उत्पन्न होने लगे। इनके निवारणार्थ नए प्रयत्न किए गए। कारकों में भेद के लिए परसर्गप्रयोग में आए जैसे-को, ने, से, का, पर आदि। इस प्रकार नए कारक-चिह्नों की उत्पत्ति हुई। क्रियारूपों में कालभेद के लिए ता, था, गा आदि परसर्ग लगे। संस्कृत में तिङ्न्त क्रियारूप तीनों लिंगों के लिए एक थे, जैसे-बालकः पठति, बालिका पठति, बालः पतति, कुमारी पतति, पत्रं पतति, परन्तु हिन्दी में लिंगभेद से भेद होता है। पुलिंग में-राम

जाता है, जाएगा, गया आदि, स्त्रीलिंग में-सुशीला जाती है, जाएगी, गई आदि।प्रान्तीय भेद के कारण कुछ नए प्रयोग विभिन्न उपभाषाओं में मिलते हैं। जैसे-भोजपुरी में वर्तते (है) से बाटे। खानाखात बाटे (खाना खा रहा है)। कुछ और घिस कर-‘तू का कारत बाड़’ के स्थान पर ‘तू का करताड़’ (करत+बाड़=करताड़) (तू क्या कर रहा है?) जैसे प्रयोग भी बोलचाल की भाषा में प्रचलित हैं।

पद (रूप) परिवर्तन के कारण

ध्वनि परिवर्तन के कारणों में से कुछ कारण रूप-परिवर्तन में भी सक्रिय रहते हैं। भाषा में रूप परिवर्तन यद्यपि ध्वनि परिवर्तनसे भिन्न है फिर भी इस रूप परिवर्तन के कुछ कारण अलग से भी हैं। सरलता की प्रवृत्ति भाषा में नये रूपों का निर्माणकरती है और साथ ही नवीनता की प्रवृत्ति एवं स्पष्टता, सादृश्य, अज्ञान, बलाघात आदि अन्य अनेक कारण हैं जो शब्दरूपों को परिवर्तित कर देते हैं। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने पद (रूप) परिवर्तन के निम्नलिखित कारण बताए हैं-

1. सरलीकरण

जिस प्रकार सरलता के लिए ध्वनियों में एकरूपता लाई जाती है और ध्वनि-परिवर्तन होता है, उसी प्रकार रूपों में भी सरलता के लिए परिवर्तन होते हैं। जैसे-उपर्युक्त प्रकरण में दिए गए उदाहरणों में द्विवचन कालोप, चतुर्थी आदि कारकों का अभाव, लुङ् आदि लकारों का अभाव। वैदिक संस्कृत में तुम् (को, के लिए) के अर्थमें से, असे, अघ्यै, ऐ, इष्ये, अम, तोः, तवे, तवै आदि 18 प्रत्यय हैं, किन्तु संस्कृत में केवल तुमुन् (तुम्) प्रत्यय ही रह गया है। जैसे-कृ<कर्तुम् (करने को)। वैदिक व्याकरण में लेट् लकार था, जो संस्कृत में सर्वथा लुप्त हो गया।इसी प्रकार हिन्दी में संस्कृत के सुप् और तिङ् प्रत्ययों का लोप हो गया और परसर्गों से उसका काम लिया जानेलगा। इसके मूल में सरलीकरण की प्रवृत्ति है।

2. नवीनता की अभिरुचि

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवीनता की अभिरुचि दिखाई पड़ती है। भाषा में भी इसकाप्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। नवीनता के लिए कुछ नये शब्दों की सृष्टि की जाती है या अप्रचलितशब्दों का नये अर्थ में प्रयोग देखा जाता है। संस्कृत में प्रिय और प्रियतम तथा प्रिया-प्रियतमा प्रचलित हैं। हिन्दीमें प्रेयसी का प्रयोग प्रियतमा के अर्थ में नवीनता का द्योतक है। बंगला में मार्ग के अर्थ में सरणीका प्रयोग बहुत प्रचलित है। नवीनता के लिए उच्चैः श्रवाः के अनुकरण पर देवश्रवाः, सत्यश्रवाः, विश्वश्रवाः आदिनाम मिलते हैं। इसी प्रकार मृदुता के लिए मार्दव, पटुता के लिए पाटव, सुन्दरता के लिए सौन्दर्य,आदि शब्द प्रयोग में आने लगे हैं। भाषा में यह नवीनता कभी-कभी क्लिष्टता और अरुचि का कारण होजाती है।

3. सादृश्य

विश्व की सभी भाषाओं में रूप-परिवर्तन में सादृश्य का बहुत बड़ा हाथ है। इस सादृश्य का कारण सरलता और समीकरण की प्रवृत्ति रही है। करिन्+आ=करिणा, दण्डिन्+आ=दण्डिना में 'ना' लगाना व्याकरण की दृष्टि से पूर्णतया शुद्ध है। इसके अनुकरण पर हरि+आ=हरिणा, कवि+आ=कविना; वारि+आ=वारिणा, भानु+आ=भानुना आदि रूप बने हैं। ये व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध होते परंतु सादृश्य के आधार पर 'आ' के स्थान पर 'ना' का प्रयोग होने लगा। इसी प्रकार द्वा+दश=द्वादश के अनुकरण पर एक+दश=एकादश हो गया। इसमें आ आने का कोई कारण नहीं है। त्रीणि से तीन, तीनों शब्द बनेंगे, परन्तु द्वौ से 'दो' बन सकता है, 'दोनों' नहीं। यह 'दोनों' शब्द तीनों के सादृश्य पर बना है।

4. अज्ञता

अज्ञान के कारण भी रूप-संबंधी अनेक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। जैसे-उपर्युक्त के स्थान पर 'उपरोक्त', तदनन्तर या तत्पश्चात् के स्थान पर 'उपरान्त', श्रीयुत के स्थान पर श्रीयुत्, विद्वत्ता के स्थान पर विद्वान्ता और महत्ता के स्थान पर महानता। ये प्रयोग अज्ञता-सूचक हैं, परन्तु चल पड़े हैं। मरना < मरा, भरना < भरा के तुल्यकरण < करा शुद्ध प्रयोग था, पर लेना < लिया, देना < दिया के सादृश्य पर करना का 'किया' प्रयोग चल पड़ा। अशुद्ध होने पर भी चल पड़ा है। इसी प्रकार अभि+ज्ञ में अ को निषेधार्थक समझकर कुछ लोग 'भिज्ञ' प्रयोग करते हैं। शुद्ध 'स्रष्टा' के स्थान पर 'सृष्टा', शुद्ध 'अनुगृहीत' के स्थान पर अनुग्रह के सादृश्य पर 'अनुग्रहीत' अशुद्ध प्रयोग अज्ञता के कारण हैं।

5. बल

किसी शब्द पर बल देने के लिए भी भाषा में रूप-परिवर्तन किया जाता है। 'श्रेष्ठ' शब्द 'तम' अर्थ वाला है, परन्तु श्रेष्ठ से लोग सन्तुष्ट न रहकर बल देने के लिए 'सर्वश्रेष्ठ' और 'श्रेष्ठतम' का भी प्रयोग करते हैं। यह 'डबल सुपरलेटिव' हो गया, जो कि निषिद्ध है। इसी प्रकार स्वादु से स्वादिष्ठ (स्वादुतम, अत्यधिक स्वाद वाला) शब्द बना है, परन्तु 'अत्यन्त स्वादिष्ठ' शब्द बल देने के लिए प्रयुक्त होने लगा। बल देने के लिए कुछ अशुद्ध प्रयोग भी चल पड़ते हैं। जैसे-अनेक (एक से अधिक) शब्द बहुवचन का बोधक है। इसका भी 'अनेकों' बहुवचनान्त प्रयोग (अनेकों विद्वानों ने, आदि) चल पड़ा है। भोजपुरी में 'फजूल' (व्यर्थ) के अर्थ में अशुद्ध शब्द 'बेफजूल' बेकार अर्थ में चलता है। यद्यपि बे (नहीं) +फजूल (व्यर्थ) का अर्थ होगा-सार्थक या जो व्यर्थ नहीं है।

3.5. अपनी प्रगति जांचिए

1. यास्कमतानुसार पद के कितने भेद हैं?
2. चवर्ग का उच्चारण स्थान क्या है?

3. पाणिनि के अनुसार पद कितने प्रकार के होते हैं?
4. “व” का उच्चारण स्थान क्या है?
5. आभ्यन्तर प्रयत्न कितने प्रकार का होता है?

3.6. सारांश

प्रस्तुत इकाई के माध्यम से विद्यार्थियों एवं पाठकों की अनेक शंकाओं का निवारण हो सकेगा। जैसे ध्वनि-विज्ञान क्या है? ध्वनियों का वर्गीकरण कितने प्रकार से किया जा सकता है? ध्वनि परिवर्तन के कारण तथा दिशाएँ क्या है? प्रमुख ध्वनि-नियम कौन से हैं? पद-विज्ञान क्या है? पद के कितने भेद हैं? तथा पद परिवर्तन के कारण तथा दिशाएँ क्या है? इन सभी प्रश्नों का समाधान इकाई में प्रस्तुत किया गया है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है की ध्वनि-विज्ञान भाषा-विज्ञान का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है। यह भाषा की विभिन्न ध्वनियों का की की ठीक-ठीक ज्ञान कराता है और उसके ठीक उच्चारण की शिक्षा देता है। इसका उपयोग विश्व की विभिन्न भाषाओं को सीखने में अत्यंत उपयोगी है। यह प्रत्येक भाषा की मूल ध्वनियों का ज्ञान कराता है। ध्वनि-विज्ञान विभिन्न भाषाओं के पारस्परिक संबंध के द्वारा विश्व-बंधुत्व और विश्व-संस्कृति की स्थापना में सहयोग देता है, तथा यह भाषाशास्त्रियों, संगीतज्ञों, कलाकारों और वक्ताओं के लिए अत्यंत उपयोगी साधन है।

पाश्चात्य भाषाशास्त्रीय विश्लेषणों के क्षेत्र में पद-विज्ञान विश्लेषण एक आधुनिकतम विकास है, किंतु भारतवर्ष में इस शाखा का पूर्ण विकास अतिप्राचीन काल में ही हो चुका था। महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी इसका एक जीवंत प्रमाण है। इसके अंतर्गत भाषा विशेष के रूपों अथवा पदों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन एवं विश्लेषण किया गया है। इस दृष्टि से ध्वनि-विज्ञान एवं पद-विज्ञान की उपयोगिताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

3.7. मुख्य शब्दावली

वाग्-यंत्र	- ध्वनि-यंत्र
प्रयत्न	- वर्णों के उच्चारण में प्राणों का व्यापार
वर्ण-विपर्यय	- वर्ण का स्थान परिवर्तन
महाप्राण	- जिन वर्णों के उच्चारण में प्राणवायु अधिक लगती है
नाद	- जिन वर्णों के उच्चारण के अंत में कुछ गूँज-सी रहती है
ईषत्स्पृष्ट	- जिन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा उच्चारण-स्थान पर थोड़ा-सा स्पर्श करती है

- योगरूढ शब्द - जो शब्द यौगिक होते हुए भी किसी विशेष अर्थ में रूढ हो जाते हैं
- रूढ शब्द - जिनमें प्रकृति और प्रत्यय को स्पष्ट रूप से अलग नहीं किया जा सकता
- आदेश - मूल शब्द के बदले दूसरे शब्द का प्रयोग
- निपात - अव्यय शब्द

3.8. अपनी प्रगति जांचिए के उत्तर

1. चार
2. तालु
3. दो
4. दंतोष्ठ
5. पाँच

3.9. अभ्यास हेतु प्रश्न

1. ध्वनि का लक्षण देते हुए, उसके उच्चारण अवयव, उसके कार्य तथा ध्वनियों के वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।
2. ध्वनि-परिवर्तन के कारणों पर विचार कीजिए।
3. ध्वनि-परिवर्तन की दिशाओं पर प्रकाश डालिए।
4. ध्वनि-नियम को स्पष्ट कीजिए।
5. पद किसे कहते हैं? इसके प्रकारों पर प्रकाश डालिए।
6. पद-परिवर्तन के कारणों को समझाइए।

3.10. आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. संस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन- भोला शंकर व्यास।
2. पद पदार्थ समीक्षा- डॉ. बलदेव सिंह, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय प्रकाशन।
3. भारत का भाषा सर्वेक्षण (हिंदी अनुवाद)- ग्रियर्सन, जॉर्ज अ.
4. भारतीय आर्य भाषा (हिंदी अनुवाद)- ज्यूल ब्लॉख।
5. भाषा और भाषिकी- देवीशंकर द्विवेदी।

इकाई-4

वाक्य एवं अर्थ-विज्ञान

4.1. परिचय

प्रस्तुत इकाई में हम वाक्य का स्वरूप तथा उसके भेद, वाक्य परिवर्तन के कारण तथा दिशाओं का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

वाक्य भाषा का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। मनुष्य अपने विचारों की अभिव्यक्ति वाक्य के माध्यम से करता है। अतः वाक्य भाषा की लघुतम पूर्ण इकाई है। वाक्य विज्ञान में भाषा में प्रयुक्त विभिन्न पदों के परस्पर संबंध का विचार किया जाता है। अतएव वाक्य विज्ञान में इन सभी विषयों का समावेश हो जाता है- वाक्य का स्वरूप, वाक्य की परिभाषा, वाक्य की रचना, वाक्य के अनिवार्य तत्त्व, वाक्य में पदों का विन्यास, वाक्यों के प्रकार, वाक्य का विभाजन, वाक्य में परिवर्तन, परिवर्तन की दिशाएं तथा परिवर्तन के कारण आदि। इस प्रकार वाक्य-विज्ञान में वाक्य से संबद्ध सभी तत्त्वों का विवेचन किया जाता है। इस इकाई में हम वाक्य-विज्ञान के विश्लेषण के उपरांत अर्थ-विज्ञान का स्वरूप तथा अर्थ परिवर्तन के कारण तथा दिशाओं की भी समीक्षा करेंगे।

अर्थ शब्द की आत्मा है एवं शब्द शरीर है। ध्वनि-विज्ञान, पद-विज्ञान एवं वाक्य-विज्ञान भाषा के शरीर है। इनमें भाषा के बाह्यरूप का विवेचन किया जाता है लेकिन अर्थ आत्मा है। अर्थ-विज्ञान में शब्दार्थ के आंतरिक पक्ष का विवेचन किया जाता है। अर्थ क्या है? अर्थ का ज्ञान कैसे होता है? शब्द और अर्थ में क्या संबंध है? आदि भाषा के आंतरिक पक्ष हैं, एवं अर्थ-विज्ञान में शब्दों के अर्थ में विकास, अर्थविकास की दिशाएँ, अर्थ परिवर्तन के कारण, एकार्थक और अनेकार्थक शब्दों के अर्थ का निर्णय आदि अर्थ-विज्ञान के बाह्यपक्ष है। जिस प्रकार शरीर के ज्ञान के बाद आत्मा का ज्ञान आवश्यक होता है, उसी प्रकार ध्वनि, पद, वाक्य के ज्ञान के बाद अर्थ-रूपी आत्मा का ज्ञान अनिवार्य है।

4.2. इकाई के उद्देश्य

वाक्य का लक्षण तथा उसके भेदों को समझ पाएंगे;

वाक्य परिवर्तन के कारणों की विवेचना कर सकेंगे;
 वाक्य परिवर्तन की दिशाओं का सारगर्भित विश्लेषण कर पाएंगे;
 अर्थ परिवर्तन के कारणों की विवेचना कर सकेंगे;
 अर्थ परिवर्तन की दिशाओं की समीक्षा कर सकेंगे।

4.3. वाक्य-विज्ञान

वाक्य विज्ञान का स्वरूप

वाक्य विज्ञान के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों का विचार किया जाता है- वाक्य की परिभाषा, वाक्यों के प्रकार, वाक्यों में परिवर्तन, वाक्यों में पदों का क्रम, वाक्यों में परिवर्तन के कारण आदि। वाक्य विज्ञान के स्वरूप के विषय में डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने विस्तार से विवेचन किया है। उनका मत इस प्रकार है:- वाक्य-विज्ञान में भाषा में प्रयुक्त विभिन्न पदों के परस्पर संबन्ध का विचार किया जाता है। अतएव वाक्य-विज्ञान में इन सभी विषयों का समावेश हो जाता है- वाक्य का स्वरूप, वाक्य की परिभाषा, वाक्य की रचना, वाक्य के अनिवार्य तत्त्व, वाक्य में पदों का विन्यास, वाक्यों के प्रकार, वाक्य का विभाजन, वाक्य में निकटस्थ अवयव, वाक्य में परिवर्तन, परिवर्तन की दिशाएँ, परिवर्तन के कारण आदि। इस प्रकार वाक्य-विज्ञान में वाक्य से संबद्ध सभी तत्त्वों का विवेचन किया जाता है। पद-विज्ञान और वाक्य-विज्ञान में अन्तर यह है कि पद-विज्ञान में पदों की रचना का विवेचन होता है। अतः उसमें पद विभाजन (संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि), कारक, विभक्ति, वचन, लिंग, काल, पुरुष आदि के बोधक शब्द किस प्रकार बनते हैं, इस पर विचार किया जाता है। वाक्य-विज्ञान उससे अगली कोटि है। इसमें पूर्वोक्त विधि से बने हुए पदों का, कहाँ, किस प्रकार से रखने से अर्थ में क्या अन्तर होता है, आदि विषयों का विवेचन है। ध्वनि निर्मापक तत्त्व हैं। जैसे मिट्टी, कपास आदि; पद बने हुए वे तत्त्व हैं, जिनका उपयोग किया जा सकता है, जैसे- ईंट, वस्त्र आदि; वाक्य वह रूप है, जो वास्तविक रूप में प्रयोग में आता है, जैसे- मकान, सिले वस्त्र आदि। पद ईंट है तो वाक्य मकान या भवनातात्त्विक दृष्टि से ध्वनि, पद और वाक्य में मौलिक अन्तर है। ध्वनि मूलतः उच्चारण से संबद्ध है। यह शारीरिक व्यापार से उत्पन्न होती है, अतः ध्वनि में मुख्यतया शारीरिक व्यापार प्रधान है। पद में ध्वनि और सार्थकता दोनों का समन्वय है। ध्वनि शारीरिक पक्ष है और सार्थकता मानसिक पक्ष है। पद में शारीरिक और मानसिक दोनों तत्त्वों के समन्वय से वह वाक्य में प्रयोग के योग्य बन जाता है। सार्थकता का संबन्ध विचार से है। विचार मन का कार्य है, अतः पद में मानसिक व्यापार भी है। वाक्य में विचार, विचारों का समन्वय, सार्थक एवं समन्वित रूप में अभिव्यक्ति, ये सभी कार्य विचार और चिन्तन से संबद्ध हैं, अतः मानसिक कार्य है। वाक्य में मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक पक्ष मुख्य होता है। विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति वाक्य से होती है, अतः वाक्य ही भाषा का सूक्ष्मतम सार्थक इकाई माना जाता है। इनका भेद इस प्रकार भी प्रकट किया

जा सकता है-

1. ध्वनि: उच्चारण से संबद्ध है, शारीरिक तत्त्व मुख्य है, प्राकृतिक तत्त्व की प्रधानता के कारण प्रकृति के तुल्य 'सत्' है।
2. पद: इसमें शारीरिक और मानसिक दोनों तत्त्व हैं, सत् के साथ चित् भी है, अतः 'सच्चित्' रूप है।
3. वाक्य: मानसिक पक्ष की पूर्ण प्रधानता के कारण भाषा का अभिव्यक्त रूप है, अतः 'आनन्द' रूप या 'सच्चिदानन्द' रूप है। वाक्य ही सार्थकता के कारण रसरूप या आनन्दरूप होता है। भावानुभूति, रसानुभूति या आनन्दानुभूति का साधन वाक्य ही है। वाक्य सत्, चित्, आनन्द का समन्वित रूप है, अतः दार्शनिक भाषा में इसे 'सच्चिदानन्द' कह सकते हैं।

वाक्य की परिभाषा

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने वाक्य की भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषा की है।

प्राचीन मत

भारत के प्राचीन वैयाकरणों और भाषा-शास्त्रियों ने वाक्य के विषय में सूक्ष्मता से विचार किया है। डा. कपिलदेव द्विवेदी ने इन मतों को सार रूप में प्रस्तुत किया है और इन मतों की समीक्षा भी की है जो इस प्रकार है: पतंजलि ने महाभाष्य में वाक्य के 5 लक्षण दिए हैं -

1. एक क्रियापद वाक्य है।
2. अव्यय, कारक और विशेषण से युक्त क्रिया-पद वाक्य है।
3. क्रिया-विशेषण-युक्त क्रिया-पद वाक्य है।
4. विशेषण-युक्त क्रिया-पद वाक्य है।
5. क्रियापद-रहित संज्ञा-पद भी वाक्य होता है। जैसे- तर्पणम् (तर्पण करो), पिण्डीम् (ग्रास खाओ)। मीमांसकों, नैयायिकों और साहित्यशास्त्रियों ने साकांक्ष पद-समूह को 'वाक्य' माना है। आचार्य विश्वनाथ ने 'आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पद-समूह को वाक्य माना है। आचार्य 'भर्तृहरि' ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों और दार्शनिकों के मतों का संग्रह 'वाक्यपदीय' में करते हुए वाक्य की निम्नलिखित परिभाषाएं दी हैं-

1. क्रिया-पद को वाक्य कहते हैं।
2. क्रिया-युक्त कारकादि के समूह को वाक्य कहते हैं।
3. क्रिया एवं कारकादि-समूह में रहनेवाली 'जाति' वाक्य है।

4. क्रियादि-समूह-गत एक अखण्ड शब्द (स्फोट) वाक्य है।
5. क्रियादि-पदों के क्रम-विशेष को वाक्य कहते हैं।

पतंजलि और थ्रॉक्स

ईसा से पूर्व भाषाशास्त्रीय तत्त्व-चिन्तकों में भारत में पतंजलि' (150 ई. पू. के लगभग) और यूरोप में 'डायोनिसियस थ्रॉक्स' (प्रथम शताब्दी ई. पू.) का नाम उल्लेखनीय है। दोनों ही आचार्यों ने वाक्य की परिभाषा इस प्रकार दी है- 'पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द-समूह को वाक्य कहते हैं।' इसमें दो बातों पर विशेष बल दिया गया है:-

(क) वाक्य शब्दों का समूह है।

(ख) वाक्य पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है।

(ग) भाषा की इकाई वाक्य है, न कि शब्दसमूह या पद।

(घ) यह आवश्यक नहीं है कि वाक्य शब्दों का समूह ही हो। एक पद वाले भी वाक्य प्रयोग में आते हैं। 'चलोगे?' 'हाँ', 'कहाँ से?' 'घर से', 'कुतः' 'नद्याः' आदि।

(ङ) अनेक भाषाओं में एक समस्त पद ही पूरे वाक्य का काम देता है।

(च) वाक्य भाषा का अंग है, वह सम्पूर्ण अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता। एक ग्रन्थ या भाषण में सहस्रों वाक्य होते हैं, तब पूर्ण की अभिव्यक्ति होती है। एक-एक वाक्य विचार-धारा की एक-एक तरंग मात्र है।

वाक्य की व्यावहारिक परिभाषा

डा. कपिलदेव द्विवेदी ने वाक्य की व्यावहारिक परिभाषा इस प्रकार दी है-

“भाषा की लघुतम पूर्ण सार्थक इकाई को वाक्य कहते हैं।”

अर्थात् 'पूर्ण अर्थ की बोधक सार्थक लघुतम इकाई को वाक्य कहते हैं। यह भाषण या विचारों का एक अंग होता है।'

कोई भी वाक्य तात्त्विक रूप से पूर्ण अर्थ का बोध नहीं कराता है। वह विचार-धारा का एक अंश होता है। पूरा भाषण या पूरा ग्रन्थ ही पूर्ण अर्थ का बोधक होता है। उसे हम 'महावाक्य' कह सकते हैं। वाक्य उसका अंग होगा। पतंजलि ने वाक्य की सत्ता के साथ ही 'महावाक्य' की सत्ता भी मानी है और वाक्य को अंग माना है।

सा चावश्यं वाक्यसंज्ञा वक्तव्या, समानवाक्याधिकारश्च।

(महाभाष्य 2.2.1)

वाक्य के आवश्यक तत्त्व

भारतीय मनीषियों के अनुसार वाक्य में तीन तत्त्व अनिवार्य हैं-

1. आकांक्षा
2. योग्यता
3. आसत्ति (संनिधि)

आचार्य विश्वनाथ ने वाक्य की परिभाषा देते हुए इन्हीं तीन तत्त्वों को स्वीकार किया है-

वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। (सा. दर्पण 2.1)

इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

1. आकांक्षा

आकांक्षा का अर्थ है- अपेक्षा या जिज्ञासा की असमाप्ति। वाक्य में प्रयुक्त शब्दों को एक दूसरे की अपेक्षा रहती है। कर्ता को कर्म और क्रिया की अपेक्षा रहती है; कर्म को कर्ता एवं क्रिया की तथा क्रिया को कर्म और क्रिया की अपेक्षा रहती है; कर्म को कर्ता एवं क्रिया की तथा क्रिया को कर्ता एवं कर्म की अपेक्षा को 'जिज्ञासा' भी कह सकते हैं। इसअपेक्षा या जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही वाक्य बनता है। आकांक्षा की पूर्ति के बिना वाक्य अपूर्ण रहता है। इसलिए वाक्य में पदों का साकांक्ष होना अनिवार्य है। साकांक्षता के कारण वाक्य में पद परस्पर संबद्ध होते हैं, जैसे केवल 'राम' कहने से वाक्य पूरा नहीं होता है। जिज्ञासा होती है कि वह क्या करता है?, इसी प्रकार केवल 'पुस्तक' कहने से भी वाक्य की पूर्ति नहीं होती। पुस्तक का क्या होता है? रामः पुस्तकं पठति (राम पुस्तक पढ़ता है), वाक्य में कर्ता 'राम', 'पुस्तक' नाम के कर्म को, 'पढ़ना' क्रिया करता है। ये तीनों पद 'रामः पुस्तकं पठति' परस्पर आकांक्षा-युक्त (साकांक्ष, अपेक्षायुक्त) हैं, अतः वाक्य पूर्ण हुआ। आकांक्षा के द्वारा श्रोता की जिज्ञासा की पूर्ति होती है, साकांक्ष पद ही वाक्य होते हैं। आकांक्षा-रहित गाय, अश्व, मनुष्य आदि शब्द वाक्य नहीं होते।

2. योग्यता

योग्यता का अर्थ है- पदों में पारस्परिक संबन्ध की योग्यता या क्षमता। अर्थात्- पदों के द्वारा जो अर्थ कहा जा रहा है, उसको क्रियात्मक रूप देने की योग्यता या क्षमता होनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह होता है कि पदों के अन्वय में कोई बाधा न हो। पदों के अन्वय में दो प्रकार से बाधा पड़ती है- 1. अर्थ-मूलक, 2. व्याकरण-मूलक।

1. **अर्थमूलक बाधा या अयोग्यता-** कोई वाक्य व्याकरण की दृष्टि से ठीक हो, परन्तु अर्थ या प्रतीति की दृष्टि से अयोग्य हो तो वह वाक्य नहीं होगा। जैसे- स वहिनना सिञ्चति (वह आग से सींचता है), स

वायुना लिखति (वह हवा से लिखता है)। आग से सींचा नहीं जा सकता है और न हवा से लिखा जा सकता है, अतः ये दोनों वाक्य व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी अर्थ की दृष्टि से अयोग्य हैं, अतः वाक्य नहीं है। यहाँ पर अर्थ या प्रतीति संबन्धी बाधा है।

2. व्याकरण-मूलक बाधा या अयोग्यता- वाक्य यदि अर्थ की दृष्टि से ठीक हो और व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध होतो वह वाक्य नहीं माना जाएगा। लिंग, विभक्ति, वचन विशेषण आदि में 'व्याकरणिक अन्विति' या एकरूपता होनी चाहिए। निम्नलिखित वाक्यों में व्याकरण की दृष्टि से अयोग्यता है: - 1. सुशीला जाता है। 2. राम आती है। 3. मैं सुन्दरी पुस्तक देखता है। 4. राम ने बोला। इनमें लिंग, विभक्ति, विशेषण आदि की अयोग्यता है।

3. आसत्ति (संनिधि)

आसत्ति का अर्थ है- समीपता। इसको ही संनिधि भी कहते हैं। समीपता से अभिप्राय है कि वाक्य में प्रयुक्त पद लगातार या क्रमबद्ध रूप से उच्चरित हों। बीच में आवश्यकता से अधिक समय देने पर उन पदों का क्रम टूट जाएगा और वे वाक्य नहीं बनेंगे। 'मैं खाना खाता हूँ' में 'मैं खाना' आज बोला गया और 2 घंटे या 1 दिन बाद कहा गया- 'खाता हूँ' समय का अधिक व्यवधान हो जाने से यह वाक्य नहीं बनेगा और न इससे कोई अर्थ निकलेगा। इसलिए समय की समीपता या सानिध्य अनिवार्य है, जिससे वाक्य क्रमबद्ध हो सके।

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहा है। इसी प्रकार उक्त गुणों से युक्त वाक्यों के समूह को 'महावाक्य' नाम दिया है।

वाक्यों के प्रकार

विश्व की भाषाओं में अनेक प्रकार की वाक्य रचना देखने को मिलती है। वाक्य रचना का विश्लेषण अनेक आधारों पर किया जाता है। डा. कर्णसिंह ने चार आधार माने हैं, जबकि डा. द्विवेदी ने पाँच आधार माने गए हैं। डा. द्विवेदी ने डा. कर्णसिंह द्वारा बताए गए सभी आधारों को स्वीकार किया है तथा शैली के आधार को अतिरिक्त माना है। डा. द्विवेदी का विवेचन इस प्रकार है- विभिन्न दृष्टिकोण से विचार करने पर भाषा में प्रयुक्त वाक्यों के अनेक प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। इनको संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है-

1. आकृति-मूलक भेद।
2. रचना-मूलक भेद।
3. अर्थ-मूलक भेद।

4. क्रिया-मूलक भेद।

5. शैली-मूलक भेद।

1. आकृतिमूलक भेद

विश्व की भाषाओं का आकृतिमूलक भेद किया जाता है। प्रकृति और प्रत्यय या अर्थतत्त्व और संबन्धतत्त्व किस प्रकार मिलते हैं, इसके आधार पर वाक्य भी चार प्रकार के मिलते हैं-

- (क) अयोगात्मक वाक्य।
- (ख) श्लिष्ट योगात्मक वाक्य।
- (ग) अश्लिष्ट योगात्मक वाक्य।
- (घ) प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्य।
- (क) अयोगात्मक वाक्य

अयोग का अर्थ है- प्रकृति और प्रत्यय अथवा अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का मिला हुआ न होना। अयोगात्मक भाषाओं में प्रकृति प्रत्यय अलग-अलग रहते हैं। इनमें कारक-चिह्न आदि स्वतंत्र शब्द होते हैं। चीनी भाषा अयोगात्मक भाषा है। इसमें पद-क्रम निश्चित है- कर्ता, क्रिया, कर्म। विशेषण कर्ता के पूर्व आता है। जैसे-

1. ता जेन (बड़ा आदमी) (ता-बड़ा, जेन-आदमी)
जेन ता (आदमी बड़ा है) (इसमें 'ता' विधेय हो गया है)
2. वो ता नी (मैं तुझे मारता हूँ) (वो-मैं, ता-मारना, नी-तुम)
नी ता वो (तू मुझे मारता है) (नी-तू, ता-मारना, वो-मैं)

(ख) श्लिष्ट योगात्मक वाक्य

ऐसे वाक्य में प्रकृति और प्रत्यय श्लिष्ट (मिले हुए, जुड़े) होते हैं। इनमें प्रकृति (शब्द, धातु) और प्रत्यय को अलग-अलग करना कठिन होता है। भारोपीय परिवार की प्राचीन भाषाएँ संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, अवेस्ता आदि इसी प्रकार की हैं। संस्कृत के उदाहरण हैं-

वृक्षात् पत्रम् अपतत् (पेड़ से पत्ता गिरा)।

अहं गुरुं द्रष्टुं अगच्छम् (मैं गुरु को देखने गया)।

इन वाक्यों में प्रकृति और प्रत्यय को सरलता से अलग नहीं किया जा सकता है।

(ग) अश्लिष्ट योगात्मक वाक्य

ऐसे वाक्यों में प्रकृति और प्रत्यय अथवा अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व अश्लिष्ट (घनिष्ठता से न मिलना) ढंग के मिले हुए होते हैं। प्रकृति और प्रत्यय जुड़े होने पर भी तिल-तण्डुल-वत् (तिल और चावल की तरह) अलग-अलग देखे जा सकते हैं। तुर्की भाषा में इसके सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। जैसे- एल्-इम्-डे-कि (मेरे हाथ में है, एल्-हाथ, इम्-मेरा, डे-में, कि-होना)।

(घ) प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्य

ऐसे वाक्यों में प्रकृति और प्रत्यय इतने अधिक घनिष्ठ रूप में मिल जाते हैं कि पदों को पृथक् करना कठिन होता है। पूरा वाक्य एक शब्द-सा हो जाता है। ऐसे उदाहरण दक्षिण अमेरिका की चैरोकी भाषा, पेरीनीज पर्वत के पश्चिमी भाग में बोली जानेवाली बास्क भाषा आदि में मिलते हैं।

1. चैरोकी में-नाधोलिनिन (हमारे पास नाव लाओ)
2. बास्क में-हकारत (मैं तुझे ले जाता हूँ)

हिन्दी आदि की बोल-चाल की भाषा में ऐसे उदाहरण मिलते हैं-

1. भोजपुरी - सुनलेहलीहं (मैंने सुन लिया है)
2. मेरठ की बोली-उन्नेका (उसने कहा)
3. गुजराती-मकुंजे (मैं कह्युं जे, मैंने यह कहा कि)

2. रचना-मूलक भेद

वाक्य की रचना या गठन के आधार पर वाक्य के तीन भेद होते हैं।

- (क) सामान्य (सरल या साधारण) वाक्य
- (ख) संयुक्त वाक्य
- (ग) मिश्र वाक्य

(क) सामान्य वाक्य- इसमें एक उद्देश्य होता है और एक विधेय अर्थात् एक संज्ञा और एक क्रिया। जैसे- वह पुस्तक पढ़ता है।

(ख) संयुक्त वाक्य- इसमें दो या दो से अधिक समानाधिकरण वाक्य होते हैं। जैसे-

1. सिद्धार्थ विद्यालय जाता है और मन लगाकर पढ़ता है।
2. हिमांशु चला गया परंतु रास्ते से लौट आया।

(ग)मिश्र वाक्य- इसमें एक मुख्य वाक्य होता है और उसके आश्रित एक या अनेक उपवाक्य होते हैं। जैसे-

1. यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः।
2. यस्यार्थाः तस्य मित्राणि।
3. जिसके पास धन होता है, उसके सभी मित्र होते हैं।
4. जिसके पास विद्या है, उसका सर्वत्र आदर होता है।

3. अर्थमूलक भेद

अर्थ या भाव की दृष्टि से वाक्य के प्रमुख 8 भेद किए जाते हैं-

1. विधि-वाक्य कृष्ण काम करता है।
2. निषेध-वाक्य कृष्ण काम नहीं करता है।
3. प्रश्न-वाक्य क्या कृष्ण काम करता है?
4. अनुज्ञा-वाक्य तुम करो।
5. सन्देश-वाक्य कृष्ण काम करता होगा।
6. इच्छार्थक-वाक्य ईश्वर, तुम्हें सद्बुद्धि दे।
7. संकेतार्थक-वाक्य यदि कृष्ण पढ़ता तो अवश्य उत्तीर्ण होता।
8. विस्मयार्थक-वाक्य अरे तुम उत्तीर्ण हो गए!

सुर आदि के आधार पर अन्य भेद भी किए जा सकते हैं।

4. क्रिया-मूलक भेद

वाक्य में क्रिया के आधार पर दो भेद होते हैं-

- (क) क्रियायुक्त वाक्य
- (ख) क्रियाहीन वाक्य।

(क) **क्रियायुक्त वाक्य-** सामान्यतया सभी भाषाओं में एक वाक्य में एक क्रिया होती है। वह विधेय के रूप में होती है। अधिकांश वाक्य इसी कोटि में आते हैं। जैसे- सः पुस्तकं पठति (वह पुस्तक पढ़ता है)।

वाक्य के आधार पर क्रियायुक्त वाक्य तीन प्रकार के होते हैं-1. कर्तृवाच्य,2.कर्मवाच्य,3.भाववाच्य।

1. **कर्तृवाच्य** में कर्ता मुख्य होता है। कर्ता में प्रथमा होती है। जैसे- रामः पुस्तकं पठति (राम पुस्तक पढ़ता है)।

2. **कर्मवाच्य** में कर्म मुख्य होता है, अतः कर्म में प्रथमा होती है और कर्ता में तृतीया। जैसे- मया पुस्तकं पठ्यते (मेरे द्वारा पुस्तक पढ़ी जाती है)।

3. **भाववाच्य** में क्रिया मुख्य होती है, कर्म नहीं होता। कर्ता में तृतीया होती है और क्रिया में सदा प्रथम पुरुष एकवचन होता है। जैसे- मया हस्यते (मेरे द्वारा हँसा जाता है), मया हसितम् (मैं हँसा)।

(ख) **क्रियाहीन वाक्य**-प्रचलन के आधार पर कई भाषाओं में क्रियाहीन वाक्यों का भी प्रयोग होता है। वहाँ क्रियापद गुप्त रहता है।

1. **प्रचलन-मूलक**- प्रचलन के आधार पर संस्कृत, रूसी, बंगला आदि में सहायक क्रिया के बिना भी वाक्यों का प्रयोग होता है। क्रिया अन्तर्निहित मानी जाती है। हिन्दी, अंग्रेजी में सामान्यता सहायक क्रिया का होना अनिवार्य है। जैसे-

संस्कृत- इदं मम गृहम् (यह मेरा घर है)

रूसी- एता मोय दोम (यह मेरा घर है)

बंगला- एइ आमार बाड़ी (यह मेरा घर है)

2. **प्रश्न-वाक्य**- प्रश्न-वाक्यों में प्रश्न और उत्तर दोनों स्थलों पर या केवल उत्तर-वाक्य में क्रिया नहीं होती। जैसे-

प्रश्न - कस्मात् त्वम् (कहाँ से?)।

उत्तर- प्रयागात् (प्रयाग से)।

यहाँ पर पूरा प्रश्न वाक्य होगा- तुम कहाँ से आ रहे हो? उत्तर- मैं प्रयाग से आ रहा हूँ। प्रयत्नलाघव के कारण क्रियाहीन वाक्य का प्रयोग होता है।

3. **मुहावरों में**- लोकोक्तियों या मुहावरों में क्रियाहीन वाक्यों का प्रयोग होता है। जैसे, यथा राजा तथा प्रजा (जैसा राजा वैसी प्रजा); गुणाः पूजास्थानम् (गुण पूजा के स्थान हैं); प्रज्ञाहीनःअन्ध एव (बुद्धिहीन अन्धा है); घर का जोगी जोगना आन गाँव का सिद्ध, आम का आम गुठली के दाम; सत्यं शिवं सुन्दरम्; जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ।

4. **विज्ञापनों, समाचार-पत्रादि के शीर्षकों में**- 'बुढ़े से जवान', 'नक्कालों से सावधान', 'देश में दुर्भिक्ष', 'युवती पर हमला', 'हिन्दुओ सावधान', 'इस्लाम खतरे में' आदि।

5. आतंक, भय, विस्मय आदि के सूचक पदों में- आग!, चोर चोर!, हाय दुर्भाग्य!, बाढ़-बाढ़, भूकम्प!

5. शैली-मूलक भेद

शैली के आधार पर वाक्यों के तीन भेद किए जाते हैं- 1. शिथिल वाक्य, 2. समीकृत, 3. आवर्तक।

1. **शिथिल वाक्य-** इसमें अलंकृत या मुहावरेदार वाक्य की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। वक्ता या लेखक मनमाने ढंग से बात कहता है। जैसे- 'एक थी रानी कुन्ती, उसके पाँच पुत्र, एक का नाम युधिष्ठिर, एक का नाम भीम, एक का नाम कुछ और, एक का नाम कुछ और, एक का नाम भूल गया'। यह कथावाचकों आदि की शैली होती है।
2. **समीकृत वाक्य-** इसमें संतुलन और संगति का ध्यान रखा जाता है। जैसे, यस्यार्थाः तस्य मित्राणि (जिसके पास पैसा, उसी के मित्र), यतो धर्मस्ततो जयः, इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः, यथा राजा तथा प्रजा, जिसकी लाठी उसकी भैंस, न घर का न घाट का। समीकृत वाक्य विरोधमूलक भी होते हैं। जैसे- कहाँ हंस कहाँ बगुला, कहाँ राजा कहाँ रंक, कहाँ शेर कहाँ सूअर। समीकृत वाक्य संतुलन आदि गुणों के कारण लोकोक्ति के रूप में प्रचलित हो जाते हैं।
3. **आवर्तक वाक्य-** इसमें क्रिया कथनीय वस्तु में दी जाती है। श्रोता की जिज्ञासा अन्तिम वाक्य सुनने पर ही पूर्ण होती है। यदि, अगर आदि लगाकर वाक्यों को लंबा किया जाता है। जैसे- 'यदि सुख चाहिए, यदि शान्ति चाहिए, यदि कीर्ति चाहिए, यदि अमरता चाहिए तो विद्याध्ययन में मन लगाओ।'

वाक्य का विभाजन

संसार की भाषाओं की प्रकृति भिन्न भिन्न है। अतः वाक्य के अवयवों का विभाजन करना दुष्कर कार्य है। इसलिए विद्वानों में वाक्य के अवयवों के विषय में पर्याप्त मतभेद है। पाश्चात्य विद्वानों ने ग्रीक व्याकरण के आधार पर वाक्य के अवयवों का विश्लेषण किया है, जिसे भारतीय भाषाशास्त्रियों ने स्वीकार किया है तथा अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। यहाँ विद्यार्थियों की सुविधा के लिए कुछ विद्वानों द्वारा प्रस्तुत वाक्य के विभाजन दिए जा रहे हैं। डॉ. भोलानाथ तिवारी ने वाक्य का विभाजन इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

अग्र और पश्च

वाक्य के अग्र और पश्च ये दो विभाग स्वाभाविक रूप से हो जाते हैं। विशेषतः जब हम धाराप्रवाह रूप से कुछ कहते हैं तो दोनों रूप अपने आप स्पष्ट होते रहते हैं। पर विभाग आज के लिखित वाक्य या शिक्षित लोगों द्वारा प्रयुक्त वाक्य में न मिलकर अनपढ़ लोगों के छोटे-छोटे वाक्यों में मिलते हैं। भोजपुरी का एक उदाहरण लिया जा सकता है। यहाँ वाक्य के अग्र और पश्च रेखा द्वारा स्पष्ट कर दिये गए हैं। हमके खाए

जाए के रहल। जाए में देरी हो गइल। देरी हो गयला से जा शके खयकें खतम हो गयल। खयका खतम भइला से हमके आपन अस लेके रह जाएग के परलायहाँ एक वाक्य का पश्च अंश सम्बन्ध दिखलाने के लिए दूसरे का अग्र ही है। समुन्नत भाषाओं, या सुशिक्षित लोगों की बोलचालमें यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। हमारा मस्तिष्क इतना संस्कृत हो गया है कि इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने की अब आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि ऊपर के वाक्यों को आज का शिक्षित आदमी कहेगा तो उसके दो रूप होंगे। या तो वह सबको मिलाकर एक वाक्य कर देगा-

मुझे खाने जाना था पर देर हो गई और फल यह हुआ कि खाना खतम हो गया और मुझे अपना-सा मुँह लेकर रह जाना पड़ा।

या कई वाक्य में कहेगा, पर एक वाक्य के पश्च भाग को दूसरे वाक्य में अग्र-रूप में रखने की आवश्यकता न होगी।

मुझे खाने जाना था। देर हो गई। खाना खतम हो गया और मुझे अपना-सा मुँह लेकर रह जाना पड़ा।

उद्देश्य और विधेय

वाक्य के दो भाग होते हैं- 1. उद्देश्य और 2. विधेय। उदाहरणार्थ 'राम जाता है' वाक्य में 'राम' उद्देश्य है और 'जाता है' विधेय। यह विभाजन ठीक है, किन्तु प्रमुखतः केवल भारोपीय परिवार की भाषाओं पर ही लागू होता है। अन्य परिवारों में यह विभाजन इस रूप में सम्भव नहीं है। हाँ यदि अग्र तथा पश्च रूपों या दुहराए और नए आये अंशों को ही उद्देश्य विधेय मान लिया जाय तो बात दूसरी है।

वाक्य में परिवर्तन की दिशाएँ

विकास-क्रम के अनुसार विश्व की प्रत्येक भाषा में परिवर्तन होते हैं। भाषा में परिवर्तन के कारण वाक्यों के गठन और प्रयोग में भी परिवर्तन होता है। यदि संस्कृत और हिन्दी की तुलना करें तो ज्ञात होगा कि संस्कृत में पद-क्रम में परिवर्तन किया जा सकता है- पुस्तकं पठ- पठ पुस्तकम्, गोविन्दं भज-भज गोविन्दम्, परन्तु हिन्दी में काव्य-प्रयोगों आदि को छोड़कर सामान्यतया पद-क्रम में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। पद-क्रम निश्चित है- कर्ता, कर्म, क्रिया। राम गाँव जाता है, के स्थान पर- गाँव राम जाता है, नहीं कह सकते। संस्कृत के तिङन्त धातुरूपों में तीनों लिंगों में क्रिया एक ही रहती है- बालकः पतति (गिरता है), बालिका पतति, पत्रं पतति, परन्तु हिन्दी में लिंग-भेद से क्रिया में भेद होता है- बालक पढ़ता है, बालिका पढ़ती है।

वाक्य में परिवर्तन की मुख्य दिशाएँ ये हैं०:-

1. पदों में परिवर्तन- हिन्दी में नवीनता के लिए पदक्रम में कुछ नये परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। पहले 'मात्र' का प्रयोग संबद्ध शब्द के बाद होता था; अब पहले होने लगा है। जैसे- मानवमात्र,

प्राणिमात्र, एक रुपयामात्र के स्थान पर मात्र मानव, मात्र प्राणी, मात्र एक रुपये के लिए, आदि। विशेषण का प्रयोग विशेष्य से पूर्व होता है, परन्तु नवीनता के लिए विशेष्य के बाद भी विशेषण का प्रयोग होता है। काला आदमी, प्राकृतिक दृश्य, उस महात्मा की जीवन लीला, सूअर का बच्चा, निर्धनता का अभिशाप के स्थान पर आदमी काला, दृश्य प्राकृतिक, जीवनलीला उस महात्मा की, बच्चा सूअर का, जैसे प्रयोग प्रचलित हो गए हैं।

2. **अन्वय में परिवर्तन-** संस्कृत में विशेष्य-विशेषण में लिंग और वचन की अन्विति अनिवार्य है- शोभनः बालकः, शोभनौ बालकौ, शोभना बालिका, शोभनं पुष्पम्, विद्वान् शिष्यः, विदुषी शिष्या। हिन्दी में प्रारम्भ में इसी आधार पर पूज्य पिताजी, पूज्या माताजी, सुन्दर बालक, सुन्दरी कन्या आदि प्रयोग प्रचलित थे, परन्तु अब इस भेद को हटाकर केवल पुल्लिंग विशेषण का ही प्रयोग किया जाता है। पूज्य पिताजी, पूज्य माताजी, सुन्दर कन्या आदि।
3. **अधिक पद-प्रयोग-** अज्ञान आदि के कारण वाक्य में कुछ अधिक पदों का प्रयोग किया जाता है। जैसे- 'फजूल' (व्यर्थ) के स्थान 'बेफूजल'; 'दरअसल' (वस्तुतः) के स्थान पर 'दरअसल में'; घर जाता हूँ- घर को जाता हूँ, मुझे-मेरो को, वह दुर्जन व्यक्ति, श्रेष्ठ-श्रेष्ठतम, सौन्दर्य-सौन्दर्यता।
4. **पद या प्रत्यय का लोप-** संक्षेप या प्रयत्नलाघव के लिए कहीं-कहीं पर पद या प्रत्यय का लोप कर दिया जाता है। जैसे- अहं गच्छामि के स्थान पर 'गच्छामि'; त्वं पठ, त्वं लिख, पठ, लिख। 'त्वं कुतः आगच्छसि' को कुतः? 'मैं नहीं पढ़ता हूँ' को 'मैं नहीं पढ़ता'। 'वह बीमार उठ नहीं सकता है और न बैठ सकता है' को 'वह बीमार उठ-बैठ नहीं सकता'।
5. **कोष्ठ और डैश का प्रयोग-** अर्थ की स्पष्टता के लिए कहीं-कहीं पर कोष्ठ () और डैश (-) का प्रयोग किया जाता है। जैसे-
 - (क) राम (परशुराम) ने क्षत्रिय वंश का नाश किया।
 - (ख) राम-जमदग्नि पुत्र, परशुराम-का क्रोध असह्य था।
6. **आदरार्थ बहुवचन-** आदर या महत्त्व दिखाने के लिए एक के लिए भी बहुवचन का प्रयोग होता है। जैसे- गुरुः पूज्यः' । 'अत्रभवान्' (पूज्य) का अत्रभवन्तः। 'राम वन गया' को -राम वन गए'। इसी प्रकार 'आपके शुभदर्शन हुए', 'आप कब पधारे', 'हमारा (मेरा) अनुरोध है'।
7. **प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कथन-** अंग्रेजी के वाक्यगठन के प्रभाव के कारण हिन्दी में भी तदनु रूप वाक्यों का प्रयोग होने लगा है। 'शीला ने कहा कि मैं कल नहीं आऊंगी' के स्थान पर 'शीला ने कहा कि वह कल नहीं आएगी'।

8. कारक के लिए अर्धविराम- अंग्रेजी के अनुसरण पर हिन्दी में भी संक्षेप के लिए कारक-चिह्नों के स्थान पर अर्ध-विराम (काँमा) का प्रयोग होता है। जैसे-

‘प्रयाग विश्वविद्यालय के कुलपति’ के स्थान पर ‘कुलपति, प्रयाग विश्वविद्यालय’। इसी प्रकार ‘अध्यक्ष, लोकसभा’ प्रधानमंत्री, भारत सरकार’ आदि

वाक्य परिवर्तन के कारण

ध्वनि, रूप और अर्थ के समान वाक्य-रचना में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। वाक्यरचना में परिवर्तन के कारण लगभग वही हैं जो भाषा-परिवर्तन के विषय में बताए गए हैं। सभी विद्वानों ने लगभग एक जैसे कारण माने हैं। यहाँ कुछ प्रमुख कारणों का उल्लेख किया जा रहा है।

1. **अन्य भाषाओं का प्रभाव:** विश्व की विविध भाषाओं के परस्पर सम्पर्क के कारण भाषाओं के वाक्य-गठन पर प्रभाव पड़ता है। भारत में यवनों की भाषा अरबी, फारसी और अंग्रेजों की भाषा अंग्रेजी का प्रभाव हिन्दी भाषा पर पड़ा। वाक्यों में ‘कि’ और ‘चूँकि’ का प्रयोग फारसी का प्रभाव है। हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य में ‘कि’ वाले प्रयोग नहीं मिलते हैं। संस्कृत में ‘कि’ के लिए ‘यत्’ निपात है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कथन वाले वाक्यों में अंग्रेजी का प्रभाव पड़ा है। ‘सीता ने कहा कि मैं भी वन जाऊँगी’ के स्थान पर ‘सीता ने कहा कि वह भी वन जाएगी’। अंग्रेजी के प्रभाव के कारण हिन्दी में भी बड़े-बड़े वाक्यों की रचना होने लगी है। संस्कृत में विशेषण-बहुल लम्बे वाक्य दूसरे ढंग के हैं। अंग्रेजी के प्रभाव के कारण क्रिया के बाद कर्म का प्रयोग भी कुछ चलने लगा है- ‘वह पुस्तक पढ़ता है’ के स्थान पर ‘वह पढ़ता है पुस्तक’। इसी प्रकार के वाक्य हैं- मैं पीता हूँ चाय, मैं लाया हूँ गुडिया, मैं खाता हूँ मक्खन, आदि।

संस्कृत में किसी अन्य के कथन को ‘इति’ बाद में लगाकर कहा जाता है। इसके लिए अब हिन्दी में ‘ ’ इन्वर्टेड काँमा का प्रयोग अंग्रेजी की देन है।

2. **विभक्तियों का घिस जाना:** संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि प्राचीन भाषाएँ संयोगात्मक थीं। विकास-क्रम के अनुसार वे वियोगात्मक हो गईं। इसके परिणामस्वरूप वाक्य-रचना में अन्तर आ गया। विभक्तियों, प्रत्ययों का कार्य परसर्गों, सहायक क्रिया आदि से लिया जाने लगा। संयोगात्मक अवस्था में पदक्रम में परिवर्तन हो सकता था। कर्ता, कर्म, क्रिया को आगे-पीछे रख सकते थे, परन्तु वियोगात्मक अवस्था में पदक्रम निश्चित हो जाता है, जैसा कि हिन्दी, अंग्रेजी आदि में विद्यमान है। इसमें कर्ता और कर्म का स्थान बदलने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है। हिन्दी में ने (तू. एक. एन), पर (उपरि) आदि घिसे हुए कारक-चिह्न हैं।

3. **बलाघात:** बलाघात के कारण वाक्य-गठन में परिवर्तन हो जाता है। ‘मैं पराजय जैसी चीज नहीं

जानता’, के स्थान पर ‘पराजय, मैं नहीं जानता’।

4. **स्पष्टता:** स्पष्टता के लिए वाक्य-गठन में परिवर्तन होता है। इसके लिए कोष्ठ या डैश का प्रयोग होता है। ‘अमरत्व (मोक्ष की कामना) मानव-जीवन का लक्ष्य है’।
5. **मानसिक स्थिति:** भाषा में वाक्यों की रचना पर वक्ता की मानसिक स्थिति का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। यदि किसी बाह्य अथवा आन्तरिक कारण से वक्ता क्षुब्ध है, घबराया हुआ है, तो उसकी भाषा में वाक्य छोटे-छोटे, पदक्रम अव्यवस्थित रहता है। यही कारण है कि युद्धकालीन भाषा तथा शान्तिकालीन भाषा में बड़ा अन्तर रहता है। शान्ति-काल में भाषा में प्रयुक्त वाक्यों में व्यवस्था अधिक रहती है।
6. **प्रयत्न-लाघव:** प्रयत्न-लाघव के लिए तो सभी जगह अवकाश रहता है। अतः भाषा के अन्य अंगों की ही भाँति वाक्य-परिवर्तन में भी यह कारणरूप में रहता है। वाक्यों में कुछ प्रत्ययों तथा पदों का लोप इसी का परिणाम है। जैसे “आँखों से देखी बात सच होती है।” के स्थान पर “आँखों देखी बात सच होती है” आदि।
7. **अनकरण की प्रवृत्ति-** अनेक वक्ताओं में कुछ विशेष कारणों से विशेषतः उच्चता की भावना के कारण किसी भाषा के अनुकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे वक्ता उस तथाकथित उच्च भाषा का अनुकरण जानबूझकर करने लगते हैं, जिससे उनकी अपनी भाषा के वाक्यों में परिवर्तन हो जाता है; जैसे-

“मैं जा रहा हूँ।”- मोहन ने कहा।

“तुम नहीं जा सकते।”- सोहन ने उसे रोका।

यह अंग्रेजी की वाक्य-रचना का अनुकरण है। अन्य भाषा का प्रभाव जहाँ वाक्य-रचना को अनजाने में प्रभावित करता है, वहाँ अनुकरण से जानबूझकर अपनी भाषा को दूसरी भाषा के आधार पर बदलने का प्रयास किया जाता है।

8. **नवीनता का प्रयास:** अनेक वक्ता तथा लेखक अपनी भाषा में नवीनता लाने के लिए वाक्यों के नये-नये प्रयोग करते हैं। इस प्रयास में वाक्य में प्रचलित पदक्रम को बदल दिया जाता है; जैसे- “यह स्थान मनुष्य मात्र के लिए है।” के स्थान पर “यह स्थान मात्र मनुष्यों के लिए है।” इसके अतिरिक्त अनेक बार कर्ताविहीन या क्रियाविहीन वाक्यों का प्रयोग भी देखा जाता है।
9. **अज्ञान:** अज्ञान के कारण भी वाक्यों में अधिक पदों का प्रयोग होने से, वाक्य-परिवर्तन हो जाता है। अनेक वक्ता ‘दरअसल’, ‘सज्जन’ आदि शब्दों के स्थान पर वाक्यों में ‘दरअसल में’, ‘सज्जन पुरुष’ आदि का प्रयोग करते हैं, जिससे वाक्य-रचना में परिवर्तन हो जाता है।

10. परम्परावादिता: कभी-कभी परम्परावादिता से भी वाक्यों में परिवर्तन हो जाता है। संस्कृत के विशेषण-विशेष्य का अन्वय आवश्यक था और विशेषण भी पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग होता था। हिन्दी में, इस परम्परा का पालन कुछ विशेषणों में तो हो रहा है, किन्तु कुछ में हिन्दी की प्रकृति के अनुसार विशेषण का एक ही लिंग रह गया है। जैसे, 'चतुर: बालक: या 'चतुरा बालिका'। संस्कृत के प्रति आग्रह रखने वाले कुछ विद्वान हिन्दी में भी 'चतुरा बालिका' जैसा प्रयोग करते हैं, जिससे हिन्दी-वाक्यों में परिवर्तन हो जाता है। संस्कृत में आदर प्रकट करने के लिए एकवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग होता होता था। परम्परा-पालन के लिए हिन्दी में भी ऐसे प्रयोग चल रहे हैं, जिससे हिन्दी की वाक्य-रचना में परिवर्तन हो जाता है; क्योंकि हिन्दी में एकवचन के लिए बहुवचन के प्रयोग का कोई नियम नहीं है। "वह आया" के स्थान पर "वे आये" उदाहरण ऐसा ही है। आदर के लिए, आजकल बोलचाल की हिन्दी में "आप आये" या "आप गये" जैसे कुछ वाक्यों का प्रयोग पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों के लिए समान रूप से हो रहा है। वाक्यपरिवर्तन की दृष्टि से ऐसे प्रयोगों का बहुत ही महत्व है। उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त भावुकता, 'संक्षेप की प्रवृत्ति' आदि अन्य कारण भी हैं, जिनमें वाक्य-परिवर्तन घटित होता है।

4.4. अर्थ-विज्ञान

शब्दशक्ति

शब्द से अर्थ का बोध होता है। इसमें शब्द बोधक है और अर्थ बोध्य। 'गाय का दूध पीओ' में गाय और दूध शब्द हैं, इनसे गाय-पशु और दूध-वस्तु का बोध कराया जाता है। प्रयोग या उपयोग में अर्थ (वस्तु) ही आता है, शब्द नहीं। शब्द अर्थ (वस्तु) का बोध कराकर निवृत्त हो जाता है। इसलिए भाषा में महत्व अर्थ का है। शब्द और अर्थ के संबन्ध को वाच्य-वाचक या बोध्य-बोधक सम्बन्ध कहते हैं। शब्द वाचक या बोधक है, अर्थ वाच्य या बोध्य।

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने शब्द और अर्थ के संबन्ध में गहन मनन-चिन्तन किया है। इस विवेचन को वे 'शब्दशक्ति' या 'वृत्ति-निरूपण' नाम से प्रस्तुत करते हैं। शब्दों से होने वाला अर्थ तीन प्रकार का है- वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। इसी आधार पर शब्द भी तीन प्रकार का होता है- वाचक, लक्षक और व्यंजक। इन तीनों में विद्यमान शक्ति या वृत्ति को अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कहते हैं।

शक्ति या वृत्ति	शब्द	अर्थ	उदाहरण
अभिधा	वाचक	वाच्य (मुख्य)	गाय, अश्व, मनुष्य
लक्षणा	लक्षक	लक्ष्य (गौण)	गंगा में घोष (कुटी)
व्यंजना	व्यंजक	व्यंग्य (प्रतीयमान)	शाम हो गई

यहाँ पर काव्यशास्त्रीय ढंग से इनका विस्तृत वर्णन, भेदों-उपभेदों की चर्चा, अभीष्ट नहीं है। यहाँ पर केवल इनका सारांश दिया जा रहा है।

अभिधा

यह मुख्य वृत्ति या शक्ति है। अभिधा से बताया जाने वाला अर्थ मुख्य होता है। यह शब्द का लौकिक और व्यावहारिक अर्थ है। 'गाय दूध देती है', 'घोड़ा दौड़ता है', 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है' में गाय, घोड़ा मनुष्य का लोक प्रचलित अर्थ लिया जाता है। इसमें गाय आदि शब्दों को वाचक, गाय (पशु) आदि अर्थों को वाच्य और यह अर्थ बताने वाली शक्ति को 'अभिधा' कहते हैं।

लक्षणा

लक्षणा में तीन बातें होती हैं- 1. मुख्य अर्थ में बाधा, 2. मुख्यार्थ से संबद्ध अर्थ का लेना, 3. रूढ़ि प्रयोजन कारण। 'गंगायां घोषः' (गंगा में कुटी)। गंगा जल की धारा को कहते हैं। जल की धारा में कुटी नहीं हो सकती, अतः गंगा के किनारे कुटी अर्थ होता है। 'देवदत्त गधा है', 'मोहन पशु है' में आदमी को गधा या पशु कहा है। आदमी गधा नहीं हो सकता, अतः अर्थ होता है कि वह आदमी गधा पशु के तुल्य मूर्ख और विवेकहीन है। इसमें गंगा आदि शब्द लक्षक हैं, गंगातीर आदि अर्थ लक्ष्य हैं तथा बोधशक्ति 'लक्षणा' है।

व्यंजना

व्यंजना में व्यंग्य अर्थ मुख्य होता है। इसको प्रतीयमान अर्थ या ध्वनि कहते हैं। यह वाच्य अर्थ और लक्ष्य अर्थ से आगे की कोटि है। व्यंग्य अर्थ असंख्य प्रकार का हो सकता है। 'गंगायां घोषः' (गंगा में कुटी) में शीतलता, पवित्रता आदि अर्थ व्यंग्य अर्थ है। 'शाम हो गई' के सैकड़ों अर्थ हैं। शाम होते ही जिसको जो काम करना है, वह करे। इसी प्रकार 'सबेरा हो गया', 'दिवाली आ गई', 'होली आ गई' के सैकड़ों अर्थ निकलते हैं। 'दिवाली', 'होली' कहते ही बच्चों के लिए मनोरंजन, मिठाई खाना, रंग डालना आदि सैकड़ों अर्थ आ जाते हैं। इनमें 'गंगा' आदि शब्दों को व्यंजक, पवित्रता आदि अर्थों को व्यंग्य और शब्दशक्ति को व्यंजना कहते हैं।

अर्थ परिवर्तन

अर्थ परिवर्तन भाषा की स्वाभाविक प्रक्रिया है।

भाषा के अध्ययन से यह विदित होता है कि भाषा में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों में भी उसी प्रकार परिवर्तन होता रहता है, जिस प्रकार कि भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों या पदों में होता है। अनेक शब्दों के अर्थों को देखने से यह बात पूर्णता सिद्ध हो जाती है; उदाहरणार्थ, 'कुशलं' शब्द का मूल अर्थ था- 'कुशा लाने वाला', किन्तु बाद में इसका अर्थ हो गया 'चतुर'। इसी प्रकार 'प्रवीण' शब्द का मूल अर्थ था 'वीणा बजाने में पटु'; किन्तु बाद में इसका अर्थ सामान्य रूप से किसी भी विषय में 'पटु' होना मान लिया गया।

‘तैल’ शब्द का अर्थ पहले ‘तिलों से निकलने वाला ‘द्रव’ था, बाद में सरसों, नारियल, अलसी आदि से प्राप्त द्रव को भी ‘तैल’ कहा जाने लगा, साथ ही, ‘नीम का तेल’, मिट्टी का तेल’ भी भाषा में खूब प्रयुक्त होता है। संस्कृत में ‘मृग’ का अर्थ था -जंगली पशु’, इसीलिए ‘हाथी’ को ‘हस्तिन् मृग’ अर्थात् ‘सूंड वाला पशु’ कहा जाता था। जंगली पशुओं के आखेट को भी ‘मृगया’ इसीलिए कहते थे। बाद में, ‘मृग’ का अर्थ हो गया ‘हिरण’। ‘मन्दिर’ शब्द पहले सामान्य रूप से प्रत्येक घर के लिए ही किया जाता था। ‘दुहिता’ शब्द का अर्थ था ‘दुहने वाली’ (सम्भवतः पुत्रियाँ ही दूध दुहने का कार्य किया करती थीं) बाद में, इसका अर्थ हो गया ‘पुत्री’।

इस प्रकार, उपर्युक्त शब्दों के अर्थों को देखने से ज्ञात होता है कि उनमें अर्थ परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन अनेक दिशाओं में हुआ है, अर्थात् - कुशल, प्रवीण तथा तैल शब्दों के अर्थों में विस्तार हो गया है, मृग तथा मन्दिर शब्दों का अर्थ पहले की अपेक्षा संकुचित हो गया है तथा ‘दुहिता’ शब्द का अर्थ बिल्कुल ही बदल गया है। शब्दों के अर्थों में चाहे विस्तार हो, या संकोच अथवा किसी अर्थ का स्थान कोई सर्वथा भिन्न अर्थ ले ले, भाषा-विज्ञान की दृष्टि में यह सब अर्थ का विकास है। कुछ विद्वानों ने इसे अर्थ-विकास या अर्थ-ह्रास भी कहा है, किन्तु भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में इसे अर्थ का विकास कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

अर्थ परिवर्तन की दिशाएँ

यद्यपि अर्थपरिवर्तन की दिशाओं का पूर्णतः निर्धारण करना कठिन कार्य है, परन्तु विद्वानों ने स्थूलरूप से अर्थपरिवर्तन की तीन प्रवृत्तियाँ मानी हैं। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने पूर्व विद्वानों के मत को संकलित करते हुए इस विषय को निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया है-

संसार की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं। भाषा भी परिवर्तनशील है। जिस प्रकार ध्वनियों में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार प्रत्येक भाषा के शब्दों के अर्थों में भी परिवर्तन होता रहता है। इस अर्थ-परिवर्तन को विकास-सिद्धान्त की दृष्टि से ‘अर्थ-विकास’ भी कहा जाता है। यह अर्थ-परिवर्तन तीन प्रकार का होता है- 1. कहीं पर अर्थ विस्तार होता है, 2. कहीं पर अर्थ में संकोच होता है, 3. कहीं पर पुराने अर्थ के स्थान पर नया अर्थ आ जाता है। इन्हें ये नाम दिए गए हैं-

1. अर्थ-विस्तार
2. अर्थ-संकोच
3. अर्थदिश

इन तीनों के जो उदाहरण मिलते हैं, उन पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कुछ स्थानों पर अर्थ अपने मूल अर्थ से उत्कृष्ट हो गया है और कहीं पर वह अपने मूल अर्थ से निकृष्ट, अपकृष्ट या घटिया हो गया है।

इस दृष्टि से भी इनको दो भागों में रखा जाता है। ये उपर्युक्त तीनों भेदों में आते हैं; परन्तु सुविधा के लिए इन पर अलग भी विचार किया जाता है। ये भेद हैं-

1. अर्थोत्कर्ष
2. अर्थापकर्ष

1. अर्थविस्तार

कुछ शब्द मूल रूप से किसी विशेष या संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होते थे। बाद में उनके अर्थ में विस्तार हो गया। जैसे-

1. गोशाला, गोष्ठ- गायों के रहने के स्थान को गोशाला या गोष्ठ कहते थे। उसमें बैल, भैंस, बकरी आदि भी बँधते हैं, फिर भी गोशाला नाम है। इस प्रकार गोशाला का अर्थ बढ़ा। इसी प्रकार गोष्ठ (गोठ) का भी अर्थ बढ़ा। गोष्ठ से गोष्ठी बना है- उसमें केवल बैठना अर्थ रह गया है। गोष्ठी में पशु के स्थान पर छात्रा, अध्यापक, मनुष्य, विद्वान, सभी बैठते हैं। गोष्ठ शब्द इतना प्रचलित हुआ कि इसमें गो (गाय) का अर्थ जाता रहा और गो-गोष्ठम् (गाय-शाला), अविगोष्ठम् (भेड़-शाला), अजा-गोष्ठम् (बकरी-शाला) कहना पड़ा है।

2. महाराज- यह राजा या महाराजा के लिए था, परन्तु इतना अर्थ विस्तार हुआ कि किसी भी भद्र पुरुष को 'महाराज' कह सकते हैं। 'महाराज' रसोइया के अर्थ में बहुत प्रसिद्ध है।

3. गवेषणा- प्रारम्भ में 'गाय चाहना' अर्थ में था। फिर यह 'गाय ढूँढना' अर्थ में आया। अब इसमें से गाय अर्थ हटकर केवल ढूँढना, खोज करना, अर्थ रह गया है। अब शोधकार्य के अर्थ में इसका प्रयोग होता है। इसी प्रकार मषी या स्याही (काली स्याही) का अर्थ विस्तृत होने से सभी प्रकार की स्याही को 'स्याही' कहते हैं। 'अधर' नीचे के ओठ के लिए था। अब दोनों ओठों के लिए हो गया। इसी प्रकार बैल, पशु, गधा, उल्लू आदि शब्दों का अर्थ विस्तृत हुआ और ये 'मूर्ख' का भी अर्थ बताने लगे।

2. अर्थसंकोच

अर्थविस्तार के विपरीत कुछ शब्दों के अर्थों में संकोच हुआ है। उनका विस्तृत अर्थ संकुचित या सीमित हो गया है। यास्क ने निरुक्त में वस्तुओं के नामकरण पर विचार करते हुए- गो, अश्व, पृथ्वी आदि के उदाहरण देकर बताया है कि इनका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ बहुत विस्तृत है, परन्तु ये किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। 'गच्छतीति गौः' चलने वाले को 'गो' (गाय) कहते हैं। मनुष्य भी चलता है, उसे गो (गाय) नहीं कह सकते हैं। 'अश्रुते अध्वानम् इति अश्वः' सड़क पर चलने वाले की 'अश्व' (घोड़ा) कहते हैं। सभी सड़क पर चलने वालों को 'अश्व' (घोड़ा) नहीं कह सकते। 'प्रथनात् पृथ्वी' फैली होने के कारण 'पृथ्वी' (भूमि) नाम पड़ा। इससे ज्ञात होता है कि नामकरण का आधार तात्कालिक कोई गुण या तत्त्व होता है।

बाद में वह शब्द किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाता है। उसका व्युत्पत्ति के आधार पर सर्वत्र प्रयोग नहीं कर सकते हैं। अतएव आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कहा है कि 'शब्दों की व्युत्पत्ति का आधार दूसरा है और प्रयोग का आधार दूसरा'। लोक-व्यवहार के आधार पर ही प्रयोग होता है, व्युत्पत्ति के आधार पर नहीं। इसको ही 'अर्थसंकोच' कहते हैं।

'अन्ययद्धि शब्दानां व्युत्पत्ति-निमित्तम्, अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्' (स. दर्पण परि. 2)

इसके सैकड़ों उदाहरण हैं। सभी वस्तु-नाम अर्थसंकोच के उदाहरण हैं। व्युत्पत्ति के आधार पर उनका व्यापक अर्थ है, परन्तु वस्तु-नाम होने पर वे उस अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। जैसे-

1. जगत्, संसार, संसृत (संसार)- इनके व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ हैं- गतिशील, संसरणशील। परन्तु ये शब्द 'संसार' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं।
2. वारिज, अम्बुज, सरसिज, सरोज, पंकज, नीरज- इनका शाब्दिक अर्थ है- जल, तालाब या कीचड़ में होनेवाला, परन्तु ये शब्द 'कमल' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। मछली, काई, कीड़े आदि को नहीं कह सकते।
3. जलद, तोयद, अम्बुद, वारिवाह (बादल) का अर्थ है- जल देने वाला, जल धारण करने वाला। ये 'बादल' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं।
4. वारिधि, नीरधि, अम्बुधि, तोयधि (समुद्र) का अर्थ है- जल धारण करने वाला। ये शब्द 'समुद्र' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। बाल्टी, कंडाल, हौज को वारिधि नहीं कह सकते।
5. सर्प- रेंगने वाला। यह 'सांप' अर्थ में रूढ़ हो गया है। रेंगने वाले केंचुए आदि को सर्प नहीं कहेंगे।
6. पर्वत- पर्व (गांठ) वाला। 'पहाड़' अर्थ में रूढ़ हो गया है। पर्व वाले गन्ने को पर्वत नहीं कहेंगे।
7. तटस्थ, मध्यस्थ, उदासीन- किनारे पर खड़ा, बीच में खड़ा, ऊपर बैठा हुआ, ये शाब्दिक अर्थ हैं। परन्तु इनका प्रयोग 'निष्पक्ष' के अर्थ में होता है।
8. मन्दिर- का अर्थ भवन था। यह देवमन्दिर अर्थ में प्रसिद्ध हो गया है।
9. मृग- पशु-मात्र के लिए था। अब केवल 'हिरन' अर्थ रह गया है।
10. सभ्य- सभा में बैठने वाला। अब सुसंस्कृत, शिष्ट के लिए है।
11. श्राद्ध- श्रद्धायुक्त कर्म। अब मृतक श्राद्ध में ही प्रचलित है।
12. तर्पण- तृप्त करना। यह भी मृतकों के लिए रह गया है।
13. अनुकूल, प्रतिकूल- किनारे के इधर, किनारे के उधर। इसमें से कूल (किनारे) का अर्थ हट गया। अब केवल 'हितैषी' और 'विरोधी' अर्थ रह गए।

3. अर्थदिश

अर्थदिश का अर्थ है, एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का आ जाना। आदेश का अर्थ है- एक को हटाकर दूसरे का आना। अर्थदिश में शब्द का प्राचीन अर्थ लुप्त हो जाता है और नया अर्थ आ जाता है। जैसे-

1. असुर- मूल अर्थ असु+र (प्राणशक्तिसंपन्न) 'देवता' था। बाद में सुर (देवता) का उल्टा अ+सुर (राक्षस) अर्थ हो गया है।
2. वर- मूल अर्थ 'श्रेष्ठ' था अब केवल 'दूल्हा' अर्थ रह गया है।
3. सह- वेद में सह धातु का अर्थ 'जीतना' था, अब 'सहन करना' अर्थ रह गया है।
4. मौन- मूल अर्थ 'मुनि-कर्म' या मुनियों का आचरण था। अब 'चुप रहना' अर्थ रह गया है।
5. देवानां प्रिय- देवों का प्रिय। अशोक की उपाधि थी। बौद्धों से द्वेष के कारण ब्राह्मणों ने 'देवानां प्रियः' का अर्थ मूर्ख कर दिया।
6. बौद्ध-बुद्ध- बौद्ध धर्मावलम्बी को बौद्ध कहते थे। उसके अपभ्रंश रूप 'बुद्धू' का अर्थ 'मूर्ख' हो गया।
7. पाषण्ड- अशोक के समय में एक संप्रदाय था। इन्हें दान दिया जाता था। इसके रूपान्तर 'पाखण्ड' का अर्थ ढोंग, दिखावा' रह गया है।
8. आकाशवाणी- देवताओं की वाणी था। अब All India Radio के लिए प्रयुक्त होता है।
9. साहस- साहस का प्राचीन अर्थ चोरी, डकैती आदि था। अब इसका 'उत्साहपूर्ण कार्य' अर्थ में प्रयोग होता है।
10. खाद्य-खाद- खाद्य शब्द 'भक्ष्य' (खाने योग्य वस्तु) के लिए था। उसका रूपान्तर 'खाद' केवल कृषि के लिए उर्वरक है।
11. भद्र-भद्दा- भद्र का अर्थ था 'सुशील, विनीत, उच्च'। इसके विकसित रूप 'भद्दा' का अर्थ 'गन्दा, बुरा' हो गया है।
12. मुग्ध- मूल अर्थ था 'मूर्ख'। इसका अर्थ हो गया है- 'मोहित होना'। सौन्दर्य पर मुग्ध होना।
13. वाटिका-बाड़ी- संस्कृत में वाटिका का अर्थ था- बागीचा। बंगला में यह 'बाड़ी' (घर) हो गया है।
14. कर्पट-कपड़ा- कर्पट का प्राचीन अर्थ था- फटा वस्त्र। इसका विकसित रूप 'कपड़ा' है। यह अच्छे कपड़े के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

4. अर्थोत्कर्ष

अर्थ की दृष्टिसे विचार करने पर ज्ञात होता है कि अर्थविकास की जोतीन दिशाएँ बताई गई हैं, उनमें कुछ शब्दों में अर्थपरिवर्तन से अर्थ में उत्कर्ष आया है और कुछ में अर्थ-अपकर्ष (निकृष्टता)। जिन शब्दों में अर्थोत्कर्ष हुआ है, उनके कुछ उदाहरण ये हैं-

1. मुग्ध- मूर्ख अर्थ में था, अब 'मोहित होना' अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता है।
2. साहस-साहसी- साहस-डाका डालना, चोरी, व्यभिचार आदि अर्थ में था, अब यह 'सहसा'-उत्साहयुक्त कार्य और 'साहसी'-उत्साही अर्थ में प्रयुक्त होने से अर्थोत्कर्ष हुआ है।
3. कर्पट-कपड़ा- 'कर्पट' फटे चीथड़े के लिए था, अब 'कपड़ा' अच्छे वस्त्र के अर्थ में आता है।
4. फिरंगी- पुर्तगाली डाकू के लिए था, अब 'यूरोपियन' के लिए है।
5. गोष्ठ- गोष्ठी - गोष्ठ गोशाला के लिए था, 'गोष्ठी' सभ्य समाज की सभा के लिए है।
6. गवेषणा- गाय ढूँढना अर्थ था, 'अनुसंधान' अर्थ हो गया है।
7. सभ्य- सभा में बैठने वाले के लिए था, अब 'सुसंस्कृत' के लिए है।

5. अर्थापकर्ष

इसी प्रकार अर्थपरिवर्तन से कुछ शब्दों के अर्थों में अपकर्ष (हीनता, निकृष्टता) आया है। जैसे—

1. असुर - ऋग्वेद में देव-वाचक था, संस्कृत में 'राक्षस' हो गया।
2. जुगुप्सा- पालन करना, छिपाना अर्थ था, अब 'घृणा' अर्थ रह गया।
3. शौच- पवित्र कार्य के लिए था (शुचि > शौच), अब 'मल - त्याग' अर्थ हो गया।
4. देवानां प्रिय- देवों का प्रिय, अशोक अर्थ था, अब 'मूर्ख' अर्थ रह गया।
5. घृणा- संस्कृत में घृणा का 'दया' अर्थ भी था, अब केवल 'घृणा' अर्थ रह गया।
6. महाराज- बड़े राजा के लिए था, अब 'रसोइया' रह गया।
7. चतुर्वेदी-चौबे- चतुर्वेदी 'चारों वेदों के ज्ञाता' के लिए था, उसका विकसित रूप 'चौबे' केवल 'अधिकखाने वाला' अर्थ में रह गया।
8. हरिजन-शिल्पकार- हरिजन 'भक्त' के अर्थ में था, शिल्पकार-शिल्पी के अर्थ में था, अब दोनों शब्द 'शूद्र या अछूत' के अर्थ में हैं।
9. उद्धार-उधार- उद्धार 'उद्धार करना' उधार (उधार लेना) रह गया।

10. मधुर- मधुर (मीठा) भोजपुरी में 'माहुर'(विष) हो गया।
11. वज्रपटुक-'पूर्ण ब्रह्मचारी' से 'बजरबटू' (महामूर्ख) हो गया।
12. आबदस्त- नमाज पढ़ने से पूर्व हस्त-शुद्धि के लिए था, अब मलत्याग के बाद 'जल छूने' के लिए है।
13. कामशास्त्र, कोकशास्त्र- काम-संबन्धी शास्त्र थे, अब 'सेक्स-साहित्य' के लिए हैं।

अर्थ परिवर्तन के कारण

अर्थ परिवर्तन के अनेक कारण हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि किसी एक ही कारण से किसी शब्द का अर्थ परिवर्तित हो जाए। एक साथ अनेक कारण भी हो सकते हैं। विद्वानों ने अर्थपरिवर्तन के कारणों की अनेक सम्भावनाएं की हैं। पाश्चात्य विद्वानों के साथ-साथ आधुनिक भारतीय विद्वानों ने भी अपने-अपने मत प्रस्तुत किए हैं। ये मत सब मिलते जुलते हैं, केवल भाषा मात्र का अन्तर है। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है। यहाँ उनका विवरण ही प्रस्तुत किया जा रहा है।

अर्थ या शब्दार्थ यद्यपि काल्पनिक एवं सांकेतिक है, परन्तु अर्थबोध का साक्षात् संबन्ध मन से है। मानव मन गतिशील, चंचल, भावुक, संवेदनशील एवं नवीनता का प्रेमी है। अतः विभिन्न परिस्थितियों में मानव मन की स्थिति एक सी नहीं होती है। यही कारण है कि राग-द्वेष, क्रोध, घृणा, आवेश आदि में उच्चरित शब्दों के अर्थों में अन्तर होता है। यह अर्थ-परिवर्तन प्रारम्भ में व्यक्तिगत होता है, परन्तु बाद में समाज के द्वारा स्वीकृत होने पर भाषा में ग्रहण कर लिया जाता है और भाषा का अंग बन जाता है। इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन की समस्त प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक है।

मन की स्थितियों का भौतिक विश्लेषण नहीं किया जा सकता है, अतः अर्थपरिवर्तन के कारणों की भी इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती है। कभी-कभी अर्थ-परिवर्तन में एक के साथ दूसरा कारण भी संबद्ध होता है, अतः दोनों कारणों में उस उदाहरण को प्रस्तुत किया जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों-आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि ने अर्थभेद या अर्थपरिवर्तन के कारण रूप में लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का सूक्ष्मतम विवेचन किया है। आगे दिए गए प्रायः सभी कारण लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के भेदों में अन्तर्निहित हो जाते हैं। अन्य भाषा-प्रभाव आदि कारण उनके विचाराधीन नहीं थे। स्पष्टता के लिए काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक नाम न देकर भाषाशास्त्रीय कारण प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

1. **लाक्षणिक-प्रयोग-** भावों और अनुभूतियों की सरल, सुन्दर एवं कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए लक्षणा शक्ति का आश्रय लिया जाता है। इससे भाषा में रोचकता एवं मधुरता आ जाती है। इसके लिए अनेक प्रकार अपनाए जाते हैं। जैसे-

- (क) **सादृश्य-मूलक वर्णन-** निर्जीव में भी मानवीय अंगों का वर्णन। नारियल की आँख, आरी के दाँत, सुराही की गर्दन, घड़े का मुँह, पर्वत की चोटी, चारपाई के पैर, छन्द के चरण या पद, मकान की पीठ (छत), गुफा का पेट।
- (ख) **गौण-प्रयोग-** गुण-साम्य के आधार पर प्रयोग- सुन्दर कल्पना, कटु अनुभव, मधुर लय, मीठी मुस्कान, कटु सत्य, सरस साहित्य, नीरस भाषण, चटपटी बात आदि।
- (ग) **गुणसाम्य-मूलक प्रयोग-** गुणों की समानता के आधार पर ऐसे प्रयोग होते हैं। राम सिंह है। गुणग्राही को हंस, डरपोक को गीदड़, मूर्ख को पशु या उल्लू, गन्दे को सूअर, महामूर्ख को गधा, खुशामदी को कुत्ता, भोले-भाले को गाय (गौ), कपटी एवं अपकारी को साँप (आस्तीन का साँप), दुर्जन को बिच्छू, आदि।
2. **व्यंग्य-प्रयोग-** इसको काव्यशास्त्र के अनुसार विपरीतलक्षणा कहते हैं। किसी पर आक्षेप करने या व्यंग्य करने में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जो उससे सर्वथा उल्टा अर्थ बताते हैं। जैसे- मूर्ख को बृहस्पति, झूठे को युधिष्ठिर, कृपण को कर्ण, डरपोक को सिंह, आचारहीन को धर्मात्मा, लम्पट को ब्रह्मचारी, कुलक्षणा को सती, अनाड़ी को पंडित-पुंगव (इससे ही पोंगा शब्द बना है), दुर्जन को कृपानिधान, आदि। 'आँख का अन्धा नाम नैनसुख', 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा, आदि मुहावरे भी व्यंग्य-मूलक हैं।
3. **शिष्टाचार एवं विनम्रता-** शिष्टाचार एवं विनम्रता मनुष्य की कुलीनता का सूचक है। इसमें अहंभाव का परित्याग है। अतएव अपने इष्टदेव, पूज्य, राजा आदि का बहुत बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया जाता है और अपने को अत्यन्त तुच्छ। अतएव भक्त अपने को 'दीन', 'पापी', 'खल', 'कुमति' आदि कहता है, तथा परमात्मा को 'दीनबन्धु', 'पतित-पावन', 'पतित-उधारनहार', 'अशरण-शरण', 'पालनहार' आदि कहता है। इसीलिए गीतों में ये पद मिलते हैं- 'मैं मूरख कामी', 'तुमको मैं कुमति' मों सम कौन कुटिल खल कामी' आदि। राजा को - अवनिपति, राजाधिराज, जहाँपनाह, गरीब-परवर, अन्नदाता, माई-बाप, आलम-पनाह, पृथ्वीनाथ, जगत्पालक आदि। नौकर अपने आपको - चरणसेवक, गुलाम, अकिंचन, नाचीज, अनुचर, किंकर, सेवक आदि। इसी प्रकार शिष्टतावश आइए बैठिए के स्थान पर 'पधारिए'; 'आसन को अलंकृत कीजिए'; 'कहिए' के लिए आज्ञा दीजिए, 'फरमाइए'। भोजपुरी में 'आप' के लिए 'राउर' (सं राजकुल्य, राजकुलीन)शब्द है।
4. **वैयक्तिक ज्ञानभेद-** प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान का स्तर भिन्न होता है। शिक्षित, अशिक्षित, दार्शनिक, वैज्ञानिक, भाषाशास्त्री आदि के ज्ञान का स्तर पृथक् होता है। प्रत्येक विषय का विशेषज्ञ उस विषय के पारिभाषिक शब्दों का अर्थ सूक्ष्मता से समझता है, अन्य व्यक्ति उस शब्द का सामान्य

अर्थ लेते हैं। इसीलिए शब्दों के अर्थ-ज्ञान में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, जीव, प्रकृति, माया, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य, हिंसा, अहिंसा, क्रांति, आक्सिजन, हाइड्रोजन, आणविक अस्त्र, ध्वनिविज्ञान, ध्वनियन्त्र आदि शब्दों का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार समझता है। प्रत्येक शब्द एक 'रत्न' है, जिसका असली मूल्य विशेषज्ञ या जौहरी ही जान सकता है, जनसाधारण के लिए वह एक चमकीला पत्थर है।

5. **भावात्मक बल-** इसमें ही भावावेश और भावुकता का भी संग्रह हो जाता है। भावात्मकता आदि का बोध कराने के लिए मिठाइयों के बंगाली नाम- रसगोल (रसगुल्ला), सीताप्रिय, मोहनप्रिय, सन्देश आदि। भावोद्बोधन के लिए - कद्दू को सीताफल, तोरई को रामतोरई। पवित्रता-बोधन के लिए 'प्रयाग' शब्द- कर्ण-प्रयाग, देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, विष्णुप्रयाग। शुचित्व के लिए 'गंगा' शब्द- रामगंगा, विष्णुगंगा, लक्ष्मणगंगा आदि। अतिशय के लिए 'प्रचण्ड' प्रताप शब्द - प्रचण्ड उत्साह, भीषण गर्मी, भयंकर शीतलता, प्रचण्ड मूर्ख, प्रचण्ड प्रताप आदि।
6. **शब्दार्थ की अनिश्चितता-** भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिनका अर्थ पूर्णतया स्पष्ट और निश्चित नहीं होता। इस कोटि में मुख्य रूप से अमूर्त भावों के बोधक शब्द हैं। इसके कुछ उदाहरण वैयक्तिक ज्ञानभेद (6) में मिलेंगे। दोनों में अन्तर यह है कि उसमें व्यक्ति के ज्ञान पर बल है। वहाँ व्यक्तिगत ज्ञानभेद से अर्थ-भेद है। यहाँ शब्द का अर्थ अमूर्त होने से अस्पष्ट है। जैसे- पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, न्याय, प्रेम, श्रद्धा, आरोह-अवरोह आदि। इनका ठीक यही अर्थ है, यह बताना असंभव है। परिस्थिति, काल, देश आदि के भेद से इनके अर्थों में बहुत अन्तर हो जाता है। कैसा स्वर्ग?, कैसा नरक? है भी या नहीं? यह बताना असंभव है। इसी प्रकार अन्य शब्दों के अर्थ हैं।
7. **अज्ञान और भ्रान्ति-**अज्ञान या भ्रान्त धारणा के कारण बहुत से शब्दों का अशुद्ध प्रयोग होने लगता है। बाद में वे शब्द भाषा में चल पड़ते हैं। वेद में असुर (असु+र, प्राणशक्ति-संपन्न) शब्द देव-वाचक था। संस्कृत में 'सुर' शब्द देव-अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और अ+सुर (देव-भिन्न) अर्थ लेकर असुर का प्रयोग राक्षस के लिए होने लगा। अज्ञान के कारण ही अभि +ज्ञ (विद्वान्) में 'अ' को निषेधार्थक मानकर कुछ लोग विज्ञ के तुल्य भिज्ञ (विद्वान्) और अ+भिज्ञ (मूर्ख) प्रयोग करते हैं। अनुग्रहीत के स्थान पर अनुग्रह के आधार पर 'अनुग्रहीत' प्रयोग करते हैं। इसीप्रकार विद्वत्ता के लिए विद्वानता, महत्ता के लिए महानता, अज्ञानमूलक प्रयोग हैं। लोकभाषा में बुढापा, फजूल के लिए बेफजूल आदि प्रयोग अज्ञान-सूचक हैं।
8. **एक तत्त्व की प्रधानता-** कभी-कभी एक विशेषता या एक तत्त्व की प्रधानता के आधार पर किसी वस्तु का नाम पड़ जाता है, जैसे- सुन्दर वर्ण (रंग) के कारण सुवर्ण (सोना), सफेदी के आधार पर

‘चाँदी’ (चन्द्र > चाँद, चाँदनी), गौर वर्ण के कारण गौरी (पार्वती, हिन्दी-गोरी), कृष्णा (काली, रात्रि)। इसी प्रकार पुलिस के लिए ‘लाल पगड़ी’ कांग्रेसी के लिए ‘सफेद टोपी’, कम्युनिष्ट के लिए ‘लाल झंडा’, खान अब्दुल गफ्फार खाँ की स्वयंसेवी संस्था के लिए ‘लाल-कुर्ती’ शब्द चल पड़े हैं।

9. गौण अर्थ की मुख्यता-साहचर्य आदि कारणों से गौण अर्थ का मुख्य अर्थ में प्रयोग होने लगता है। संस्कृत में देश के आधार पर देशज व्यक्ति और राजा का अर्थ होता है- अंगा, बंगा, कलिंगा (अंग, बंग, कलिंग के व्यक्ति या राजा)। ‘पंजाब बहादुर है’ में पंजाब पंजाबी के लिए है। यमन देश के आधार पर ‘यवन’ (मुसलमान), असीरिया देश के आधार पर ‘असुर’ नाम चले। इसी प्रकार सिन्धु देश में होने से सैन्धव (सैंधा नामक), सुलेमान पर्वत पर होने से सुलेमानी नमक, सांभर झील से उत्पन्न होने से ‘सांभर नमक’ नाम पड़े। कश्मीर में होने से केसर को ‘काश्मीर’, चीन से संबद्ध होने से ‘चीनी’, चीनी मिट्टी, ‘चीनिया बादाम’ (मूंगफली) नाम पड़े। तम्बाकू सर्वप्रथम सूरत बन्दरगाह पर उतरा, अतः उसका ‘सूर्ती’ नाम पड़ा।
10. एक शब्द के विभिन्न रूप-भाषाओं में विकास के कारण एक शब्द के अनेक रूप प्रचलित हो जाते हैं। तत्सम शब्द प्रायः प्राचीन मूल अर्थ को बताता है। तद्भव शब्द उससे संबद्ध निकृष्ट अर्थ या अन्य अर्थ को बताता है। जैसे-कर्म (कर्तव्य)- काम (काम-धंधा), क्षीर (दूध)- खीर (खीर), स्तन (स्त्री का), थन (पशु आदि का), श्रेष्ठ-सेठ (साहूकार), साधु (सज्जन)- साहू (वैश्य, पत्र-पत्ता-पत्ती-पत्र (पंचांग)- पत्री (चिट्ठी), खाद्य (भोज्य पदार्थ), खाद (उर्वरक), अन्नाद्य (भोज्य अन्न), अनाज, स्थान-थाना (देवी या पशु का), थाना (पुलिस का)। कुछ शब्दों के तद्भव रूप विकृत या निकृष्ट अर्थ का बोध कराते हैं। जैसे- ब्राह्मण (शिक्षित), बाम्हन (अशिक्षित), चतुर्वेदी (वेदज्ञ), चौबे (जाति से), त्रिवेदी-तिवारी, द्विवेदी-दूबे, शुक्ल (यजुर्वेदी), सुकुल (जाति से), उपाध्याय- ओझा, झा (जाति से)।
11. समास, उपसर्ग, लिंग-भेद-समास-युक्त और असमस्त शब्दों के अर्थों में अन्तर होता है- कृष्णसर्प (सर्प-विशेष), काला सर्प (कोई भी सर्प), राजपुरुषः (राजकीय कर्मचारी), राज्ञः पुरुषः (राजा का कोई भी आदमी)। इसी प्रकार महात्मा-महान् आत्मा, महापुरुष, नीलकमल (कमल का भेद)- नीला कमल में अन्तर है। समास में शब्दों के आगे-पीछे करने से अर्थ बदल जाता है। जैसे- पतिगृह (ससुराल), गृहपति (गृहस्वामी), पण्डितराज (पण्डितों में श्रेष्ठ), राजपंडित (राजा का पंडित), कविराज (वैद्य), राजकवि (राजा का कवि)। इसी प्रकार राजवैद्य - वैद्यराज, धनपति-पतिधन, ग्रामपति-पतिग्राम आदि। संस्कृत में उपसर्ग लगाने से शब्दों के अर्थों में महान् अन्तर हो जाता है। हार-आहार-विहार-प्रहार-उपहार-संहार; योग-वियोग-संयोग-प्रयोग-अनुराग-अनुयोग; कार-आकार-विकार-प्रकार-संस्कार, धान-परिधान-विधान -निधान-अनुसंधान, ज्ञान-विज्ञान-प्रज्ञान,

दान-आदान-अनुदान आदि।लिंग-भेद से अर्थभेद हो जाता है। काला-काली (दुर्गा), शिव-शिव (गीदड़ी), कृष्ण-कृष्णा (द्रौपदी), शैल (पर्वत) शैला (पार्वती), चण्ड-चण्डी (देवी), दक्षिण-दक्षिणा (दान) आदि।

12. बल का अपसरण-शब्द में किसी ध्वनि से बल या बलाघात को हटा देने से वह ध्वनि निर्बल हो जाती है और अन्त में उसका लोप भी हो जाता है। इससे मुख्य अर्थ में अन्तर हो जाता है। उपाध्याय >ओझा> झा में बल अपसारण से उपाध्याय का झा रह गया और गुरु अर्थ के स्थान पर कान-झाड़ने वाला या कान-फूंकने वाला अर्थ रह गया। पुंगव (बैल, फिर श्रेष्ठ अर्थ) > पोंगा (गँवार पंडित)। इसी प्रकार युयुत्सु (लड़ने का इच्छुक) से जुजुत्सु (जापानी कुश्ती), वज्रवटुः (घोर ब्रह्मचारी) > बजरवटू (महामूर्ख) आदि।
13. कालभेद-कालभेद से शब्दों के अर्थों में अन्तर होता जाता है। विकास-क्रम के अनुसार सभी भाषाओं में शब्दों के अर्थों में अन्तर होता गया है। वैदिक संस्कृत-संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी के प्राचीन और नवीन रूपों की तुलना में यह स्पष्ट होता है। वेद में सह, धातु 'जीतना' अर्थ में थी, अब सहन करना अर्थ रह गया है। 'मृग' सिंह-वाचक था, अब हिरन-वाचक है। गवेषणा (गाय की खोज) का 'शोधकार्य या खोज' अर्थ रह गया है। श्रेष्ठ > सेठ, साधु > साहू, महाराज > महाराज (रसोईया), महत्तर > मेहत्तर (भंगी), महाजन (बनिया) आदि कालभेद से अर्थभेद के उदाहरण हैं।
14. अन्य भाषाओं के शब्द-अन्य भाषाओं से जो शब्द किसी भाषा में लिए जाते हैं, उनके मूल अर्थ और नये अर्थ में अन्तर हो जाता है। फारसी में 'मुर्ग' का अर्थ 'पक्षी' है। हिन्दी में उसका अर्थ 'मुर्गा' पक्षी रह गया है। लार्ड से लाट लाटसाहब-लाटसाहबी शब्द केवल शान-शौकत का बोध कराते हैं। 'दीनार' शब्द (डिनेरियसव) रोम से आया। इसका अर्थ "चाँदी या सुवर्ण का सिक्का" था। भारत में यह सोने के सिक्के (अशर्फी) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। संस्कृत का 'बुद्ध' (गौतम बुद्ध) फारसी में बुत (मूर्ति) हो गया। इससे वे हिन्दुओं को बुतपरस्त (मूर्तिपूजक) कहते हैं। संस्कृत के अर्वन् (घोड़ा) से 'अरब' देश का नाम पड़ा। संस्कृत का 'असुरमेधा' (दिव्य बुद्धि) शब्द अवेस्ता में 'अहुरमज्दा' (पारसियों का इष्टदेव) बना। संस्कृत का 'नास्ति नाभूत्' (न है, न था) से फारसी 'नेस् नाबूद' (सर्वनाश) हो गया। संस्कृत 'वाटिका' (बगीचा) बंगला में 'बाड़ी' (घर) हो गया। संस्कृत 'कादम्बरी' (बाण की कृति) मराठी में 'कादम्बरी' (उपन्यास) हो गया। इसी प्रकार संस्कृत 'नील' (नीला) हिन्दी में 'नील' (कपड़े में लगाने का नीला पदार्थ) और गुजराती में 'लिलो' (हरा रंग) हो गया। संस्कृत में वैदिक 'जीन' अंग्रेजी में मंकीन (रानी) हो गया। अन्य भाषाओं के शब्दों को लेने में प्रायः कुछ ध्वनि-परिवर्तन भी हो जाता है।
15. अन्य भाषा-प्रभाव-सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कारण अन्य भाषाओं का प्रभाव दूसरी भाषाओं

पर पड़ता हैं बंगला, पंजाबी, मराठी आदि का प्रभाव संस्कृत एवं हिन्दी की शब्दावली पर पड़ा है। अब कपितय शब्द प्राचीन अर्थों में प्रयुक्त न होकर नये अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। बंगला के प्रभाव से हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द चला। 'प्रबन्ध', 'निबन्ध' शब्द लेख अर्थ में थे। अब थीसिस के अर्थ में भी चल पड़े हैं। समारोह (चढ़ना) का अर्थ शुभ आयोजन हो गया। पंजाबी और हरियाणी के प्रभाव से हिन्दी में 'काटना' के अर्थ में 'लड़ना' का प्रयोग भी होता है। 'मच्छर काट रहे हैं' को 'मच्छर लड़ रहे हैं'। भोजपुरी में 'मच्छर लग रहे हैं' कहते हैं।

16. **संक्षेप (संक्षिप्तता)**-प्रयत्नलाभ मानव की प्रवृत्ति है। अतएव वह थोड़े शब्दों से अधिक अर्थ प्रकट करना चाहता है। फलस्वरूप शब्द के एक अंश से पूरे शब्द का अर्थ लिया जाता है। जैसे-नामों में एक अंश-रामचंद्र को 'राम', कृष्णचन्द्र को 'कृष्ण', वेदव्यास को 'व्यास'। शिलालेखों और ताम्रपत्रों में 'बहुलपक्षदिवस' को ब. दि. (कृष्णपक्ष का दिन), शुक्लपक्षदिवस को शु. दि. लिखा जाता था। इससे ही हिन्दी 'बदी' 'सुदी' शब्द चले हैं। 'संयुक्त विधायक दल' को 'संविद', 'भारतीय क्रान्तिदल' को 'भाक्रांदा। इसी प्रकार 'मोटर कार' को 'कार', 'रेलवे ट्रेन को 'रेलगाड़ी या रेल', डाक ले जाने वाली 'मेल ट्रेन' को 'मेल या डाक'। इसी प्रकार अंग्रेजी के शब्दों में भी संक्षेप मिलता है- ऑटो-रिक्शा को 'ऑटो', बाइसिकिल (बाइ-दो, साइकिल-पहिए) की 'बाइक', 'माइक्रोफोन' को 'माइक', 'नेक-टाई' को 'टाई' आदि।
17. **सादृश्य-** सादृश्य के कारण शब्दों के अर्थों में अन्तर हो जाता है। 'प्रश्रय' (प्रेम, प्रणयप्रश्रयौ समौ' अमर) का 'आश्रय' अर्थ में प्रयोग, अनुक्रोश (दया) का 'आक्रोश' (क्रोध, क्षोभ) अर्थ में प्रयोग, उत्क्रान्ति (मृत्यु, उच्छाल) का 'क्रान्ति' अर्थ में प्रयोग मिलता है। इसका कारण सादृश्य है।
18. **पुनरावृत्ति-**अज्ञान आदि के कारण एक ही अर्थ के लिए दो-दो शब्द चल पड़ते हैं। जैसे-'हिमालय' के लिए 'हिमाचल पर्वत', 'विन्ध्याचल' के लिए 'विन्ध्याचल पर्वत' (अचल का अर्थ भी पर्वत है)। 'मलय' ('मलय' का अर्थ पर्वत है) के लिए 'मलय गिरि'। इसी प्रकार 'सज्जन' (जन=पुरुष) के लिए 'सज्जन-पुरुष', 'दुर्जन' के लिए 'दुर्जन पुरुष' प्रयोग है। पुर्तगाली में 'पाव' रोटी को कहते हैं, इसके लिए 'पावरोटी' (डबल रोटी) बोला जाता है।
19. **प्रयोगाधिक्य-**कुछ शब्द बहुत अधिक प्रयोग के कारण अपना मूल महत्त्व-सूचक अर्थ खो देते हैं। जैसे-श्रीमान् (श्री-युक्त), श्रीयुत (श्री-संपन्न), महाजन (महान् व्यक्ति), महोदय (उन्नत व्यक्ति), महाशय (विशाल हृदयवाले), महात्मा (महान् आत्मा), साधु-साहु (सज्जन), बाबू (भद्र पुरुष), चौधरी (ठाकुर) आदि शब्द अत्यन्त व्यवहार के कारण अपना महत्त्व खो चुके हैं। इनका प्रयोग सर्व-साधारण के लिए होने लगा है। इसी प्रकार 'बहुत', 'अधिक', 'अतिशय', 'अत्यन्त', 'उत्तम' आदि शब्द भी घिसकर छोटे हो गए हैं।

20. **जातीय मनोभाव-जातीय** या राष्ट्रीय दुर्भावना के कारण अच्छे शब्दों का बुरे अर्थों में प्रयोग होने लगता है। फारसी में 'हिन्दू' का अर्थ नीच, गुलाम, अपवित्र, काफिर है। 'बुद्ध' का 'बुद्धू' (मूर्ख), 'लुंचितकेश' (मुंडित सिर, जैन) का 'लुच्चा' (अधम, नीच) ऐसे ही शब्द हैं। आर्यसमाजी जूते को 'कुरान शरीफ' और शौचालय को 'पाकिस्तान' कहते सुने गए हैं। इसी प्रकार मुसलमान हिन्दुओं को 'काफिर', शौचालय को 'मन्दिर' कहते पाए गए हैं।
21. **साहचर्य-साहचर्य** के कारण शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। सिन्धु नदी के साहचर्य से 'सिन्धु' (प्रान्त का नाम)। स् को फारसी में टहोने से सिन्धु का ही 'हिन्दु' बना है। यह जातिवाचक हो गया। साहचर्य के कारण ही अंग, बंग, कलिंग, महाराष्ट्र, कम्बोज, पंचाल, द्रविड़ आदि शब्द देश के साथ ही देशज व्यक्ति के भी बोधक हैं।

4.5. अपनी प्रगति जांचिए

1. कुशल पद में अर्थविस्तार है या अर्थसंकोच?
2. अर्थोत्कर्ष का क्या अर्थ है?
3. शौच पद में अर्थोत्कर्ष है या अर्थापकर्ष ?
4. अर्थविस्तार क्या होता है?
5. वाक्य में कितने तत्त्वों को अनिवार्य बताया गया है?

4.6.सारांश

प्रस्तुत इकाई के माध्यम से हमने वाक्य के स्वरूप, उसके भेद एवं वाक्य परिवर्तन के कारण तथा दिशाओं का विश्लेषण किया। इसके अतिरिक्त अर्थ-विज्ञान का स्वरूप एवं अर्थ परिवर्तन के कारण तथा दिशाओं से भी हम अवगत हुए हैं।

विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति वाक्य से होती है। अतः वाक्य ही भाषा की सूक्ष्मतम सार्थक इकाई माना जाता है। वाक्य भाषा का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। हम विभिन्न शब्दों को एक साथ बोलकर वाक्य बना लेते हैं तथा वाक्य के द्वारा अपना अभिमत प्रकट करते हैं।

भाषा में अर्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। यदि शब्द-समुदाय से वाक्य का निर्माण होकर भाषा का शरीर बनता है तो उसी शरीर में अर्थ आत्मा की भूमिका का निर्वाह करता है। शब्द एवं अर्थ का स्वाभाविक तथा नित्य संबंध है। यदि अर्थ रहित शब्दों का उच्चारण किया जाए तो वह तथ्यहीन होगा। पतंजलि ने महाभाष्य में शब्द एवं अर्थ के नित्य संबंध पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "अर्थ-ज्ञान के बिना जो शब्द मूल-पाठ के रूप में दोहराया जाता है, वह उसी प्रकार ज्ञान को प्रज्वलित नहीं करता है,

जैसे बिना अग्नि में डाला हुआ सूखा इंधन।”

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्दते।

अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

(महाभाष्य, आ. 1)

अतः इससे स्पष्ट होता है कि भाषा की सार्थकता अर्थ से होती है। अर्थ ही भाषा का सर्वस्व है तथा अर्थहीन भाषा संतानहीन स्त्री के तुल्य है।

4.7. मुख्य शब्दावली

आकांक्षा	- अपेक्षा या जिज्ञासा की असमाप्ति
योग्यता	- पदों में पारस्परिक संबंध की क्षमता
संनिधि	- समीपता
अभिधा	- यह शब्द का लौकिक एवं व्यावहारिक अर्थ है
अर्थादेश	- एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का आ जाना
अर्थोत्कर्ष	- अर्थ का अपने मूल अर्थ से उत्कृष्ट होना
अर्थापकर्ष	- अर्थ का अपने मूल अर्थ से निकृष्ट होना
उद्देश्य	- जिसके विषय में कहा जाता है
विधेय	- जो कुछ कहा जाता है
जुगुप्सा	- रक्षा करना

4.8. अपनी प्रगति जांचिए के उत्तर

1. अर्थविस्तार
2. अर्थ का अपने मूल अर्थ से उत्कृष्ट होना
3. अर्थापकर्ष
4. जहां पर अर्थ का विस्तार होता है
5. तीन

4.9. अभ्यास हेतु प्रश्न

1. वाक्य की परिभाषा देते हुए, उसके भेदों पर प्रकाश डालिए।
2. वाक्य-परिवर्तन के कारणों पर विचार कीजिए।
3. वाक्य-परिवर्तन की दिशाओं पर एक सारगर्भित निबंध लिखिए।
4. अर्थ-परिवर्तन के कारणों की समीक्षा कीजिए।
5. अर्थ-परिवर्तन की दिशाओं का विवेचन कीजिए।

4.10. आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. भाषा शास्त्र तथा हिंदी भाषा की रूपरेखा- देवेन्द्र कुमार शास्त्री।
2. संस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन- भोलाशंकर व्यास।
3. भाषा-विज्ञान पर भाषण- मैक्समूलर, एफ.।
4. Linguistic Survey of India- Grierson, G.A.
5. Outline of Linguistic Analysis- Bloch, B. and Trager G.L.